पूर्व-पक्ष : तर्क या स्थापना-विशेष, जिसके बरअक्स कोई अन्य तर्क या नया सिद्धांत विकसित किया जाता है, किसी तर्क का प्रथम अंश, वादी का पहला पक्ष, किसी प्रश्न या किसी मत के विरुद्ध पहला आक्षेप, दृष्टिकोण या तर्क।

भारतीय आधुनिकता और पूर्व-पक्ष की खोज

एक संवाद-लेख

राकेश पाण्डेय

प्राक्पक्ष

शास्त्रीयसंशयनिरासार्थप्रश्नरूपा फक्किका। सिद्धांत विरुद्धकोटिः।
भीमाचार्य झलकीकर (1928), *न्यायकोशः* भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना : 506

आक्षेपपूर्वकः प्रश्नः पूर्वपक्षः / सुश्रुत, *उत्तरतंत्र,* 65/25

पूर्वपक्षवादिना सिद्धांतवादिमतं प्रतिषेधव्यं न यत्किंचित्।
कुमारिलभट्ट, *तंत्रवार्तिक,* 3/16

पक्ष शब्द का मूल अर्थ 'डैने' ('पार्श्व' या 'खण्ड') है, जिसका आशय 'विकल्प' भी है, और इस कारण सामान्यतः उसका अर्थ 'दृष्टिकोण' या 'परिकल्पना' भी माना जाता है। अधिकांशतः प्रयोग में 'पक्ष' का अभिप्राय 'दूसरी तरफ़ या ओर' और 'पक्षांतर' का 'दूसरे विषय में' होता है। संस्कृत के विद्वत् साहित्य में यह भाष्यकार की परिपाटी है कि वह किसी ग्रंथ की व्याख्या तीन क्रमबद्ध सोपानों में करे : पहली व्याख्या 'पूर्व-पक्ष' कहलाती है, अर्थात् 'प्रथमदृष्टया आलोकन'; दूसरी, इसका प्रत्युत्तर, अर्थात् 'उत्तर-पक्ष'; और तीसरी तथा अंतिम व्याख्या 'सिद्धांत', अर्थात् 'निर्णायक और स्थापित विचार'।
फ्रिट्ज़ स्टॉल (1988), *युनिवर्सल्स : स्टडीज़ इन इण्डियन लॉजिक ऐंड लिंग्विस्टिक्स,* शिकागो युनिवर्सिटी प्रेस, शिकागो : 106

संवादों में विचार या संवाद-विचार की परम्परा हमसे बहुत दूर छूट गयी जान पड़ती है, और आज हम चिंतन या दर्शन के इतिहास में वैचारिक संवादों को मात्र आरम्भिक चरण के रूप में ही देखते हैं। प्रश्न और प्रति-प्रश्न या कथोपकथन की शैली में सोचना क्या महज़ एक पुरानी शैली की छाया मात्र है, जबकि हमारी आधुनिक विचार-परम्परा में तर्कों में जड़ा सुचिंतित गद्य में लिखा कोई निबंध या पुस्तक मानक शैली बन गये हैं! हालाँकि थोड़ा ठहर कर सोचें तो हमारी अधिकांश विचारणा संवादों में ही घटित होती है। हम किसी निबंध की रचना भी अपने मन-मस्तिष्क में चल रहे संवादों के बग़ैर नहीं कर पाते। उस संवाद को किसी अन्य की दरकार होती है, वह अन्य जो कि किसी और तर्क या विचार-परम्परा का सर्जक होता है, जो देश और काल में हमारा समकालीन या हमसे बहुत दूर का हो सकता है और कई बार महज़ हमारी कल्पना की सृष्टि। उस अन्य का विचार की किसी भी प्रक्रिया में होना, विचार का लोक से उन्मुख या बँधे होने का परिचायक है। संवाद इस प्रकार अपने मूल में एक तरह का जनांतिक कर्म है तथा किसी भी लोकतंत्र का सबसे ज़रूरी और कारगर शब्द भी। उसका छीजना लोकतंत्र की दृढ़ता के कम होने का संकेत है। संवाद कहना, कथन या बखान है, जिसमें हम विचार के सूत्रों को खुलने देते हैं— कई बार उसके खुलने में जो सौंदर्य उद्घाटित होता है उसे जानने के लिए और कई बार अपने ही विचारों को नयी सान पर पैना होते देखने के लिए। यह सब, चाहे वह विचारणा की तार्किक निष्ठा और निष्पत्ति का ज़ाहिर होना हो या उसके तारतमिक सौंदर्य का उजागर होना— उसकी सम्भावना किसी दूसरे के बग़ैर सम्भव नहीं।

विश्व की अधिकांश विचार-परम्पराओं का आरम्भ किसी काल्पनिक या प्रत्यक्ष रूप में दूसरे के सामने अपनी बात कहने की कला से हुआ है, जिसमें विचार का संवाद बन पाना बहुत आवश्यक होता है। विचार प्रमाण या साक्ष्य के बग़ैर सम्भव नहीं, और उस साक्ष्य की सार्वभौमिकता या साधारणता उसके एक से ज़्यादा के प्रत्यक्ष के लिए बेहद ज़रूरी है। विश्व के अधिकांश प्राचीन समाजों में विचार की शुरुआत आख्यान या महाकाव्य के उद्भव से जुड़ी हुई है। व्यवस्थित विचार

की परम्परा वाक् के सूत्रण से शुरू होती है, कवन के समानांतर। वैदिक संहिताओं के 'संवाद-सूक्त' हों, या ग्रीक-दर्शन में प्लेटो के संवाद, या फिर बौद्ध-निकायों के संवाद, या रामायण महाभारत जैसे महाकाव्य में बिखरे पड़े अनेक वैचारिक संवाद, व्यवस्थित चिंतन के सूत्र सदा से इनमें छिपे रहे हैं। बाद के वैचारिक सूत्रण, व्यवस्थापन, और भाष्य और टीकाओं से उनके कालांतर में परिष्कार से पता चलता है कि विचार का अस्तित्व शब्द की कला से परे नहीं है। विचार गढ़ते हुए हम कुछ कह भी रहे होते हैं, और विचार की प्रक्रिया अपने आप में किसी भी अन्य कर्म की तरह क्रिया का निष्पादन भी है। आधुनिक युग की संधियों पर पहुँचते ही जहाँ पश्चिम में भाष्य के साथ एक ओर प्रबंध-लेख (ट्रिटीज़) की परम्परा विकसित हुई, वहीं भारतीय चिंतन परम्परा में सूत्र, वार्तिक, भाष्य, निबंध और फक्किका की परम्पराएँ चलती रहीं। दोनों ही परम्पराओं में नये के उद्घोष को लेकर संयम और संकोच दिखता है, हालाँकि तर्क-शैली में नये का संधान ही दिखता है।

पश्चिम की आधुनिक चिंतन-शैली का पूरे विश्व में व्यापक प्रभाव रहा है। उस शैली के विकास की कथा पश्चिम से इतर समाजों में भाषाओं के नये रूपायन की भी कथा है। आधुनिक निबंध की लेखन-शैली उपन्यास की तरह ही आधुनिकता के विकास की कथा से जुड़ी है, जिसमें दूसरा हर बार हमारे सामने नहीं होता, किंतु उसकी उपस्थिति बहुत हद तक चिंतक या लेखक के मानस-पटल पर बनी रहती है, भले ही वह दूसरा हमारी कल्पना की ही उपज हो। आत्म की यह विशिष्ट कल्पना जिसमें उसकी निजता में ही उसका पल्लवन हो सकता है,जो कि आधुनिकता की जानी-मानी कहानी है, के लिए भी अन्य की उपस्थिति अनिवार्य रही है। आधुनिक समाज-विज्ञान या मानविकी के अनुशासन बहुत हद तक दूसरे को अपने सामने रखने के बजाय एक व्यवस्थित और तटस्थ ('ऑब्जेक्टिव') ज्ञान उत्पन्न करने की कोशिश करते हैं। ऐसे ज्ञान या विचार के उत्पादन का उद्देश्य उसका हमसे अलग एक स्वायत्त तंत्र के रूप में होना भी है। पिछली दो शताब्दियों में तर्क ('रीज़न') और वैज्ञानिकता ('साइंस') के साँचे में ढला मनुष्य और उसके समाज का अध्ययन ज्ञान की तटस्थता को अपना आदर्श मानता रहा है। पर कहीं न कहीं विचार की पुरानी शैली हमसे ओझल नहीं हो पाई है और उसका बोध हम में बना रहा है,कई बार आधुनिकता के खाँचे से बाहर आने के उपक्रम में और कई बार पुरानी शैली को फिर से समझने के क्रम में। विचारों के आधुनिक इतिहास में बची आयी यह कोई छोटी या लघु-परम्परा भी कही जा सकती है, जो कि कई बार हाशिये या छूटी हुई प्रति-परम्पराओं के रूप में सक्रिय रही है और जिसका प्रभाव बहुत गहरा रहा है। पश्चिम में ही कांट, हेगेल, और मार्क्स के समानांतर हर्डर, नीत्शे, और विट्गेंस्टाइन इस परम्परा के वाहक रहे हैं।

विचारों का इतिहास हमें बतलाता है कि बहुत सारा विचार सीधे-सीधे अनुशासनों के बंद दायरे में नहीं रचा जाता। अक्सर हमारा ध्यान इन परम्पराओं की ओर देर से जाता है, या उनकी प्रभाविता से चेत कर ही हम उन तक लौटते हैं। आधुनिक काल में भी पश्चिम के कई दार्शनिकों ने संवाद-विचार की परम्परा को जिलाए रखा है। डेविड ह्यूम के धर्म पर संवाद, कई विचारकों के साक्षात्कार, डायरी और नोट्स, और वैचारिक उपन्यास की परम्परा इसकी मिसाल हैं। छोटे गद्यांशों और सूत्रात्मक शैली में लेखन स्वयं अपनी वैचारिक और साहित्यिक सघनता के लिए

विशिष्टता हासिल करते रहे हैं। भारत में 'आधुनिक विचार' का नक़्शा तैयार कर पाना एक बड़ी गुत्थी है, ख़ासकर तब जबकि हमारे सामने उसके अध्ययन की कोई सुसंगत परम्परा नहीं दिखती। उसकी तलाश में हम जिन व्यक्तियों या कृतियों तक पहुँचते हैं, वे आधुनिक चिंतन या दर्शन-परम्परा के अकादमिक मानदण्डों से विचारक नहीं माने जा सकते। गाँधी, रवींद्रनाथ, अरविंद, या आम्बेडकर ऐसे ही व्यक्तित्व हैं, जिनके विचारों के इर्द-गिर्द हम आधुनिक भारतीय चिंतन का ख़ाका तैयार करने की कोशिश करते हैं। हालाँकि एक बहुत बड़ा दायरा जन-जीवन या लोक-पक्ष का है, जिसमें चल रही वैचारिक प्रक्रिया के अध्ययन की ओर हमारा ध्यान जाता है। साथ ही आधुनिक भारत में व्यवस्थित चिंतन की एक परम्परा स्वयं हमारे अकादमिक संस्थाओं से जुड़े कई विद्वानों के दबे पड़े कार्य में है, जिनमें परम्परा से चली आ रही पण्डितों और उस्तादों के वैदुष्य से लेकर आधुनिक ढंग के अध्यापकों और अध्येताओं के पश्चिमी ज्ञान-परम्परा को पूर्व और पश्चिम की साझी किंतु नयी ज़मीन पर सम्भव करने की कोशिश रही है। हमसे छिपा पड़ा यह लेखन संस्कृत और फ़ारसी से लेकर आधुनिक भारतीय भाषाओं और अंग्रेज़ी तक फैला है।

विचार और चिंतन का दायरा, जैसा कि दर्शन की प्राचीन परम्पराओं के गम्भीर दार्शनिकों और इतिहासकारों ने इंगित किया है, मनुष्य के जीवन और उसे जीने की कला के प्रश्न- जिनसे नैतिक-दर्शन का द्वार खुलता है, से उसी तरह अलग नहीं किया जा सकता जैसे कि भाषा से। चिंतन या दर्शन के प्रश्न मानो जीवन, जगत और भाषा के त्रिभुज के बीच आकार लेते हैं। जिसे हम कई बार अपने से अलग किसी तटस्थ सत्य के रूप में देखना चाहते हैं, वह वस्तुतः इस त्रिभुज की तीनों भुजाओं को छूता हुआ ही प्रकट होता है। विचार स्वयं उसके बोध से अलग नहीं किया जा सकता— भारतीय दर्शन में मीमांसक जिसे ज्ञातता का गुण कहते हैं, लेकिन वे फिर उसके अर्थ और कर्म में फलित होने के लिए नियमन और भाषिक आचारों की भी बात करते हैं। ब्रुनो स्नेल, ज्याँ पियेर-वर्नान, या पियेर हदो जैसे प्राचीन ग्रीक-दर्शन के आधुनिक अध्येता या स्वयं प्राचीन भारतीय-दर्शन पर विचार करने वाले मैसूर हिरियन्ना, जितेंद्रनाथ मोहंती और बिमलकृष्ण मतिलाल जैसे विद्वान चिंतन की इस विस्तृत भूमि से हमारा परिचय कराते हैं। किंतु इन परम्पराओं के इतिहास को जानना एक बात है और इनके अनुषंग में नये चिंतन को सम्भव करना दूसरी बात। हर इतिहास या परम्परा, जिससे हमारा संवाद सम्भव है, वह हमारी सोच का हिस्सा भी बनता है। वस्तुतः संवाद की सम्भावना ही पूर्व-पक्ष की नयी पीठिका है, और इस संवाद के स्रोत देश या काल की किसी भी जानी अनजानी भूमि में हो सकते हैं। हालाँकि यह सब बिल्कुल अनायास नहीं होता, सच तो यह है कि हर नये चिंतन की आधार-भूमि उसके पूर्व-पक्षों की खोज से बँधी होती है।

'प्राश्निक' के इस आयोजन में 'आधुनिक भारत में पूर्व-पक्ष की खोज' को केंद्र में रखा गया है। हमारे लिए यह खोज भाषा तथा जीवन और कर्म के नियमन के संदर्भ और आधार-भूमियों की पहचान और उनसे सम्भव संवाद से जुड़ी है। यहाँ हम आपके सामने इस खोज की एक छोटी बानगी रख रहे हैं। विचारों की यह प्रयोगशीला भूमि हमें अपनी भाषाओं के लोक और उनमें उतरते जीवन और समाज की छवियों तक सहज ही ले जाती है।

यह एक अजीब यात्रा थी, मित्र के घर से कवि के घर तक की। कहीं उसने पहले ही मन बना रखा था कवि से हमारी इस भेंट और संवाद का, बिना मुझे बताए। देर शाम मेरे उस व्याख्यान के बाद उसका औचक प्रस्ताव कवि से मिलने का, मैं कैसे ना कहता! मैंने सिर हिला दिया। मित्र किसी कवि और लेखक से बातें कर रहा था। मैं पत्र-पत्रिकाओं में कभी पढ़ी उनकी किसी रचना को याद करने की कोशिश करता रहा। बार-बार सोचता यह तो कोई परिचित नाम है। 'देयर इज़ नो रेस्पांस, ही इज़ नॉट कीपिंग वेल दीज़ डेज़', मित्र ने कहा। 'वी कैन गो लेट देयर, ही स्टेज़ क्लोज़ बाई', उसने फिर कहा। मेरे भीतर एक तरह की आंतरिक खुशी और प्रत्याशा जग गयी थी और अब मैं समझ गया था कि यह भेंट मेरी इस यात्रा का ज़रूरी हिस्सा है। हम रास्ते भर कन्नड़ साहित्य और लोक से उसके संबंध की बातें करते रहे। किसी महानगर की भीड़, नयी बनती इमारतों, सड़कों और गलियों से गुज़रते हुए कई बार यह बातचीत मध्यकालीन संत कवियों को लेकर होती रही। दक्षिण भारत की भाषाओं पर बातचीत हो तो मध्यकालीनता की यह उपस्थिति कितनी सहज है, जबकि भक्ति, रीति और सूफ़ी के अकादमिक ख़ानों में बँटे उत्तर भारत के साहित्य की चर्चा में कितनी बेमेल लगती है। आधुनिकता हमारे यहाँ एक फ़ौरी कार्रवाई है, उसके पीछे का सब कुछ परम्परा की बास से भरा है, और पाठ्य-पुस्तकों में जड़ा जा चुका है।

मित्र अमेरिका के नामी विश्वविद्यालय में प्रशिक्षित समाजशास्त्री है और मैं इतिहास का विद्यार्थी। इस मित्रता का एक सहजात सूत्र है— पश्चिमी ज्ञान की परम्पराओं में शिक्षित दो अध्येताओं का अपनी आधुनिकता के ताने-बाने को समझने की ज़िद। जिन्हें लगता है कि आधुनिकता काल की विस्मृति नहीं, न ही साम्प्रतिक का घटाटोप मात्र है, बल्कि एक तरह का काल-बोध है जिसमें परम्पराएँ अलग-अलग ढंग से सँजोई या दरकिनार की जाती हैं। हम इस बाबत उधेड़-बुन करते रहे कि कैसे आधुनिक समाज-विज्ञान की पूँजी लिए हम अपनी देहरी पर ही ठिठके रहते हैं। घर के भीतर जो सचमुच का संसार है, पता नहीं उस तक कितनी हमारी दृष्टि जा पाती है, कितनी सुध है हमें उसकी, और समझ-बूझ और पड़ताल के औज़ार भी कितने सही हैं। कहीं हम उसके प्रकट स्पंदन से खिंचने से ज़्यादा उसके पुरानेपन से तो नहीं डरते हैं! कहीं हम उसे एक तरह की उधार की आधुनिकता से लैस तो नहीं कर देना चाहते हैं! कई बार लगता है, जैसे हमारी आधुनिकता का अपना कोई समय नहीं। इतिहास और जीवन की अपनी कोई धारा नहीं, न ही उसके बोध की अपनी कोई ज़मीन ही है। अधुना, अर्थात् यह काल, जिससे कि आधुनिक शब्द बना है, और नव्य या नया की कोई अपनी प्रतीति नहीं है हमारे यहाँ।

लेकिन हम दोनों के अपने बहाने भी हैं— अपनी इन आधुनिक अनुशासनों की बौद्धिक पूँजी को उसके बने-बनाए खाँचे से बाहर निकाल लाने के। मैं अक्सर कहता हूँ कि मेरा इतिहास विज्ञान नहीं, न ही एक अनुशासन के रूप में यह सीधे-

सीधे समाज-विज्ञान की कोटि में आता है। और ऐसा हो भी तो मैं उस राजमार्ग का अनुगामी नहीं। मैं मानता हूँ कि 'इसटोरिया' और 'इतिहास' यदि एक दूसरे के ठीक-ठीक अनुवाद न हों, तो भी मूलत: अतीत के ज्ञान की आख्यानात्मक विश्लेषण की शैलियाँ हैं। लेकिन ऐसा हो कर वे तर्कणा से भी परे नहीं। इतिहास उपन्यास या कथा मात्र नहीं, न ही घटनाओं का ब्योरा मात्र है, जबकि हर इतिहासकार कथा भी कहता है और ब्योरे भी जुटाता है। आधुनिक इतिहास-लेखन की बहुत समृद्ध परम्परा है, इसके अपने नवाचार हैं, और उनमें बेहद रोचक सैद्धांतिक खण्डन-मण्डन भी हैं। लेकिन यह भी सच है कि इसकी परम्परा मूलत: पश्चिम में ही उपजी और समृद्ध हुई है। पश्चिम के बाहर के समाजों का अतीत भी इसी के सिद्धांतों और पद्धतियों की सान पर जाँचा-परखा जाता है। उन समाजों में अतीत के विश्लेषण की कोई परम्परा रही हो, तो भी वह आधुनिक अर्थ में इतिहास नहीं मानी जाती। कुछ विद्वान इतिहास से बाहर के समाजों की चर्चा ठीक ही करते हैं। लेकिन इतिहास से बाहर होना आधुनिकता की प्रणाली से भी बाहर होना है। पश्चिम से परे की अधिकांश दुनिया इस ऐतिहासिक समय के बाहर जीती है। यहाँ मैं इतिहास-लेखन और ऐतिहासिक ज्ञान या सिद्धांत की पेचीदगियों में नहीं उतरना चाहता, न ही इस बात को दुहराना चाहता हूँ कि आधुनिक इतिहास-लेखन के विकास में समाज-विज्ञान के अनुशासनों का कितना योगदान है, जो कि स्वयं इस नये इतिहास-बोध की उपज हैं। जो बात मैं रखना चाहता हूँ, वह यह है कि साहित्य, या अलंकारशास्त्र या 'रेटरिक' तथा शाब्दबोध इतिहास के ज्ञान का अलहदा पक्ष नहीं हैं। ऐतिहासिक-ज्ञान या इतिहास-दर्शन इस प्रकार विशिष्ट हैं, क्योंकि वे एक साथ ज्ञानमीमांसा, साहित्यशास्त्र तथा भाषादर्शन से जुड़े हैं। और मेरा मित्र समाज-विज्ञान को भी इसी खाँचे में डालना चाहता है। इस कारण वह समकालीनता के अध्ययन को समाजशास्त्रीय प्रविधियों के अनुषंग में भाषा के दायरे में ला खड़ा करता है। सिर्फ़ कन्नड़ समाज ही नहीं भाषा से भी वह एक समाज-वैज्ञानिक के रूप में उतना ही साबक़ा रखता है। सच पूछा जाए तो हम इस तरह कुछ कम या अधिक इतिहासकार या समाज-वैज्ञानिक हो जाते हैं, बख़ुशी।

ऐसे प्रसंग हमें अक्सर पश्चिमी ज्ञान और पश्चिमी समाजों से बाहर उसकी सार्थकता से जुड़े विवादों के बीच ला खड़ा करते हैं। मैंने मित्र से कहा कि समाज-विज्ञान या चिंतन के पश्चिमी उत्स और फिर उसके भारतीय संदर्भ की चर्चाओं में मैं थोड़ा सजग हो जाता हूँ। हालाँकि कुछ एक गम्भीर बहसों में साफ़ तौर पर उसकी दो प्रवृत्तियाँ दिखाई पड़ती हैं, या तो वे किसी मूलगामी भारतीय जीवन और चिंतन पद्धति की वकालत होती हैं, या फिर उसके ठीक उलट देश और काल की सारी विशिष्टताओं से परे एक सार्वभौमिकता की पेशकश। मैं मित्र से कहता हूँ कि ऐसी मूलगामी प्रवृत्तियों या प्राण-धाराओं की तलाश हो या वैश्विक सार्वभौमिकता की खोज, वे तो हमारे अपने पड़ोस पर ही नज़र डालने पर नहीं टिक पातीं। उसने खुद ही जोड़ा कि कई बार तो ऐसी चर्चाएँ कोरा प्रवाद बन कर रह जाती हैं। मित्र का इस विषय पर अपना एक सुचिंतित और सधा हुआ पक्ष है। मैं उससे कहता हूँ, 'यू नो, सम टाइम्स आई प्ले अ बैलेंसिंग ऐक्ट हियर, एट लीस्ट इन सम सिचुएशंस।'

मैं फिर उससे पूछता हूँ कि क्या सचमुच आधुनिक पश्चिमी ज्ञान हमारी परम्परा का हिस्सा नहीं! आधुनिकता की भी तो परम्परा होती है, और लगभग दो सौ वर्षों के पश्चिमी शासन, आचार-व्यवहार और ज्ञान का हमारे देश में कितना गहरा असर रहा है, यह तो हमसे छिपा नहीं। ऐसे में क्या हमारी आधुनिकता की कल्पना पश्चिमी ज्ञान के बिना हो सकती है! फिर मेरे मन में कई नाम उभर आते हैं, उन भारतीय समाज-वैज्ञानिकों और विचारकों के जिन्होंने सतर्क बौद्धिक अनुशासन के साथ आधुनिक पश्चिमी ज्ञान और उनसे उपजी शाखाओं के सहारे भारतीय समाज का गहरा विश्लेषण किया है। मित्र मेरी बात से पूरी तरह से सहमत था। उसने यह बात जोड़ दी कि ये सारे नाम उस देहरी पर ठिठक जाने वालों के तो नहीं जान पड़ते। उसके अनुसार इन लोगों का कहीं बहुत गहरा ताल्लुक़ न कि सिर्फ़ समाज बल्कि ज्ञान की भारतीय परम्पराओं और भाषाओं से भी रहा है। भले ही पेशेवर अकादमिक कारणों से या पश्चिम

तक अपनी बात पहुँचाने के लिए इनमें से बहुत सारा लेखन अंग्रेज़ी में किया गया हो। मैं पूछ बैठा, फिर पश्चिमी ज्ञान हमारे लिए या किसी भी उत्तर-औपनिवेशिक बौद्धिक वर्ग के लिए कैसी पहेली है—थोपा गया सिद्धांत-पक्ष या हमारी आधुनिकता का ही एक पूर्व-पक्ष!

इस बीच हम अपने ठौर तक आ पहुँचे थे। मैं इस सोच में पड़ा रहा कि आख़िर कितनी समझ है हमें अपने पूर्व-पक्षों की! और मित्र का कवि से यह संवाद का आमंत्रण! यह कोई अनजानी सरणी तो नहीं हमारी उसी खोज की, जो हमें भारतीय समाज के दमित-वंचित लोक और उसके अनुभव-विद्ध ज्ञान की ओर खींचती है। हम अगले पूरे दिन बारिश के खुलने का इंतज़ार करते रहे, जो इस शहर में लम्बी प्रतीक्षा के बाद आयी थी। उस शाम अचानक मित्र ने कहा, 'ही काल्ड, वी शुड बी देयर लेट ईवनिंग।' हम किसी अनजाने व्यक्ति से कम ही ऐसी घड़ी मिलने पहुँच जाते हैं, जब सब पूरे दिन का कारोबार निबटा कर अगली सुबह की बात सोच रहे होते हों।

आनन-फ़ानन में हम निकल पड़े और उनके घर लोहे का छोटा दरवाज़ा खोल दाख़िल हुए। वह बहुत ऊँची छत रही होगी, जिसके नीचे हम बैठे थे। बिल्कुल चौकोर कमरा जिसकी एक दीवार से लगी कुछ सीढ़ियाँ ऊपर की ओर जाती थीं। फिर वहाँ से सचमुच एक आधुनिक शहरी घर की शुरुआत होती थी। वहाँ से आवाज़ें तैरती हुई हम तक आतीं, ऊपर कमरे रौशन थे। हमने सीढ़ियों से एक बहुत छोटी क़द-काठी के व्यक्ति को उतरते देखा। उन्हें देख कर कोई भी अनुमान कर सकता था कि वे अस्वस्थ हैं।

मित्र ने मेरा परिचय करवाया। फिर कुछ देर तक मैं मित्र और कवि की शुरुआती बातचीत कन्नड़ में सुनता रहा। ऐसे अवसरों पर हर बार मुझे भाषा मनुष्य और संसार के बीच की सबसे रहस्यमय चीज़ जान पड़ती है, जबकि हम शब्दों को सुन भर रहे होते हैं, पर अर्थ नहीं जानते। यह रहस्य अभेद्य नहीं, लेकिन इसका अपना आकर्षण और रोमांच होता है। इन स्थितियों में हम जान पाते हैं कि भाषा सबसे पहले नाद है, शास्त्रकार जिसे वर्ण कहते हैं। अर्थबोध तो सायास है, याने अर्जित और परम्परित। उन दोनों की इस बातचीत के दौरान मेरी आँखें धीरे-धीरे कमरे को एकटक देखती रहीं। फिर लगा मानो उस कमरे में सिर्फ़ हम तीन ही नहीं थे, बल्कि हमारे बीच बुद्ध और आम्बेडकर भी उपस्थित थे। उनकी कई मूर्तियों और तसवीरों के बीच हम बैठे थे। अंततः यह कोई मंदिर या संग्रहालय नहीं था, बल्कि एक विद्वान लेखक का बैठक-कक्ष था।

मित्र ने कवि को जो थोड़ा बहुत मेरा परिचय पहले से दे रखा होगा, वह बहुत

था हमारी बातचीत की शुरुआत के लिए। लगभग आधी रात तक हम न जाने कितनी चीज़ों पर बातें करते रहे। मित्र ने सच्चे सूत्रधार के रूप में बातों के सिरों को जोड़ने का काम किया— वह जैसे तो कभी मंच पर होता, कभी नेपथ्य में, और कभी अदृश्य-सी दर्शकदीर्घा में। हमारी बातचीत कन्नड़ साहित्य की आधुनिक और लोक-परम्परा से शुरू होती हुई भारतीय आधुनिकता के विभिन्न प्रसंगों तक घूमती रही।

कन्नड़ के संत कवियों का प्रसंग सहज ही बार-बार आता रहा। इस बातचीत के बीच वे बार-बार अपने आतिथ्य के अधूरेपन को लेकर सजग हो जाते। जब तब ऊपर जाने को तैयार दिखते और फिर आवाज़ लगाते। वे बहुत शांत और संयत स्वर में अपनी बात रखते, जैसे कोई बहुत अनुभवी शिक्षक अपनी सहजता और प्रगल्भता से हमें चकित कर देता है। कई बार लगता जैसे उन्होंने बीमारी से उपजी सारी कमज़ोरियों को अपने भीतर दबा रखा है, ताकि इस संवाद और उनके आतिथ्य में कुछ कमी न पड़ जाए। मित्र से उनका गहरा स्नेह है, वे उसे बचपन से जानते रहे हैं। उम्र में फ़ासले के बावजूद दोनों में गहरी आत्मीयता है, एक तरह की मित्रता और एक दूसरे पर अधिकार भी। वह धीरे-धीरे उनसे अपने प्रश्न रखता, जिसमें एक छिपा इशारा होता कि अंततः यह संवाद तो हम दोनों के बीच ही होना है। वरना तो कोई अतिथि शीघ्र ही विदा माँग लेता इस रात्रि-वेला में, उनके स्वास्थ्य को देखते हुए।

लेकिन मैं तब थोड़ा सहज हो पाया जब उन्होंने यह बताया कि इस स्थिति के बावजूद वे आज दिन में एक कार्यक्रम में वक्ता थे। 'आई ऑलवेज़ स्पीक ऑन पब्लिक ऐंड लिटरेरी ऑकेज़ंस, आई हैव ऑलवेज़ डन दिस', उन्होंने मेरी ओर देख कर कहा। मित्र ने बताया कि वे दो बार विधान-परिषद् के सदस्य रह चुके हैं, और उस दौरान उन के दिये गये भाषण छप चुके हैं। लेकिन कुछ ही देर में इसमें शक नहीं रह गया कि वे मूलतः अपने को साहित्य का प्राध्यापक तथा कवि और लेखक ही मानते हैं। वे लोक-साहित्य में अपनी रुचि और उस पर किये गये शोध-कार्य की चर्चा बहुत तन्मयता से करते हैं।

उनके व्यक्तित्व को देखकर ऐसा नहीं लगता कि वे सावर्जनिक जीवन में इतने सक्रिय होंगे। हमारे देश में ऐसे लोग, या जिन्हें हम 'पब्लिक इंटेलेक्चुअल' कहते हैं, कई बार अतिरिक्त रूप से उग्र, वाचाल या नैतिक दिखते हैं। इस देश में एक दलित लेखक का सार्वजनिक जीवन में जगह बना पाना आसान नहीं, उसे हर बार वंचना की कई चौहद्दियाँ लाँघ कर कुछ सिद्ध करना पड़ता है, चाहे वह चौहद्दी भाषा की हो या साहित्यिक परम्परा अथवा मुहावरे की, या अस्तित्वगत और सामाजिक स्थिति की। लेकिन हमें बातचीत के दौरान इसका बोध क़तई नहीं था— हम भारतीय साहित्य और विचार की परम्पराओं पर संवादरत थे, दलित-साहित्य उसका एक ज़रूरी संदर्भ था।

******

सतह से नीचे का आदमी

कन्हैया ग़रीबी को, उसकी विद्रूपता को, उसकी पशु-तुल्य नग्नता को जानता है। साथ
ही उसके धर्म और दर्शन को भी जानता है। गाँधीवादी दर्शन ग़रीबों के लिए बड़े काम
का है, वैराग्य भाव, अनासक्ति और कर्मयोग, सचमुच
एक लौह-कवच है, जिसको धारण करके मनुष्य आधा नंगापन और आधा भूखापन
सह सकता है, सिर्फ़ सहने की बात नहीं, वह उसके आधार पर आत्मगौरव,
आत्मनियंत्रण और अत्मदृढ़ता का वरदान पा सकता है। और, भयानक
प्रसंगों और परिस्थितियों का निर्लिप्त भाव से सामना कर सकता है। मृत्यु उसके लिए
एक विशेष अनुभव है। ग़रीबी एक अनुभवात्मक जीवन है, कठोर-से-कठोर
यथार्थ चारों तरफ़ से घेरे हुए है, एक विराट नकार, एक विराट शून्य-सा

छाया हुआ है। लेकिन, इस शून्य के जबड़े में मांसाशी दाँत और
रक्तपायी जीभ है! कन्हैया इसे जानता है।
—गजानन माधव मुक्तिबोध (1957/2008),
सतह से उठता आदमी, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली : 100

सड़क के पेड़ों के गुम्बदों पर चढ़कर/ महल उलाँघ कर/ गलियों की गुहाओं में दबे-पाँव/
खुफ़िया सुराग में/ गुप्तचरी ताक में/ जमी हुई खोजती है कौन वह/
कंधों पर अँधेरे के/ चिपकाता कौन है/ भड़कीले पोस्टर/ लम्बे-चौड़े वर्ण और/
बाँके-तिरछे घनघोर/ लाल-नीले अक्षर
—गजानन माधव मुक्तिबोध (1964/2010),
चाँद का मुँह टेढ़ा है, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली : 61

अचानक उन्होंने मुझसे बहुत उत्साह से पूछा कि क्या मैं उन्हें हिंदी कवि मुक्तिबोध के बारे में कुछ बता सकता हूँ। अब तक मैं उनसे कन्नड़ साहित्य के विकास की कथा सुन रहा था और यह भी कि कैसे आगे जाकर वहाँ के दलित-लेखन में उस लम्बी परम्परा से एक जीवंत रिश्ता बनता है। लेकिन अचानक मुक्तिबोध के ज़िक्र से मैं थोड़े विस्मय में पड़ गया। इस नाम के आते ही उनके चेहरे पर एक अजीब तरह की खुशी झलक आयी। मैंने सोचा आधुनिक भारतीय साहित्य में इस नाम से कौन नहीं परिचित, मुक्तिबोध तो आधुनिक हिंदी साहित्य के नायक भी हैं और एक तरह के मिथक भी। लेकिन फिर मैंने जाना की यह किसी हिंदीभाषी के सामने एक औपचारिक ज़िक्र नहीं। उन्होंने बहुत गम्भीर हो कर कहा कि बहुत लम्बे समय से उनके भीतर मुक्तिबोध को पढ़ने की इच्छा रही है। ऊपर के कमरों की तरफ़ इशारा करते हुए उन्होंने बताया कि हिंदी में उनकी पूरी रचनावली मैंने लम्बे समय से सँभाल कर रखी है। यह मेरे लिए आश्चर्य और खुशी का क्षण था। समाज-विज्ञान के गलियारों में हिंदी सिर्फ़ विवादों की भाषा है। कई तो उसे किसी भाषा का दर्जा भी नहीं देते। इन हलकों में हिंदी आधुनिक भारत की सबसे बड़ी दुर्घटना या षड्यंत्र बताई जाती है। लेकिन भारतीय भाषाओं की दुनिया में तस्वीर बिल्कुल अलग जान पड़ती है। इन भाषाओं की लगभग एक हज़ार साल से भी ज़्यादा की अपनी लम्बी परम्परा रही है और उनके विकास की मिलती-जुलती कथा है। एक मूक संवाद है इनके बीच। आधुनिक युग में तो अनुवादों के सहारे एक हद तक एक दूसरे का साहित्य पढ़ा और सराहा भी जाता है।

उनके आग्रह पर कि मैं मुक्तिबोध के बारे में उन्हें कुछ बताऊँ, मैं भारी संकोच में पड़ गया। मैं साहित्य का विद्यार्थी कभी नहीं रहा। फिर भी मैंने मन में आती-जाती बातों को उनके सामने रखना शुरू किया। मेरी बातों में कवि और मित्र दोनों की रुचि गहराती जा रही थी। मैंने उन्हें बताया कि यह संयोग है कि इस साल की शुरुआत मैंने मुक्तिबोध को पढ़ते हुए ही की थी। लेकिन वह आयोजन भी साहित्यिक क़तई नहीं था। बल्कि दर्शनशास्त्र के एक विद्वान के आग्रह पर कि बीसवीं सदी के पूर्वार्ध के हिंदी कवि और विचारक जयशंकर प्रसाद की *कामायनी* में शैव-दर्शन के प्रभाव पर एक संवाद हो, यह सिलसिला शुरू हुआ। मुक्तिबोध की पुस्तक *कामायनी : एक पुनर्विचार* अपनी सघनता और त्वरा में एक आधुनिक क्लासिक का दर्जा पा चुकी कृति के खण्डन की मिसाल है। मैंने उनसे कहा कि मैं इन प्रसंगों को बौद्धिक और सांस्कृतिक इतिहास के विद्यार्थी के रूप में देखता हूँ। वैदिक मिथकों और शैवागम के मेल से रचे गये एक आधुनिक काव्य को मुक्तिबोध मार्क्स के समाज-दर्शन की रोशनी में पढ़ते हैं। प्रसाद और मुक्तिबोध दोनों ही औपनिवेशिक शासन के दौरान नये भारतीय राष्ट्र और समाज की आधुनिकता की तलाश कर रहे थे। फिर मैंने कहा कि यह बात ध्यान देने की है कि दोनों के बीच इस ऐतिहासिक विवाद के बावजूद गहरी समानताएँ थीं। मित्र ने कहा, मैं समझ

सकता हूँ। वह स्वयं आधुनिक कन्नड़ साहित्य के वैचारिक ताने-बाने में गहरी रुचि रखता है। और फिर मित्र और कवि के बीच कुछ क्षणों तक एक मौन संवाद चलता रहा। भरसक कवि के चेहरे पर एक तरह की प्रीतिकर सहमति का भाव उभर आया था। मैं भी समझने लगा कि हमारे संवाद में यह छोटा-सा विराम कितना ज़रूरी था।

उन दोनों ने फिर पूछा, अपने मन में तैयार उत्तर की आशा में, कि क्या मैं अपना आशय थोड़े और विस्तार से समझाना चाहूँगा। मैंने सोचा ज़रूर उनके मन में कोई प्रसंग होगा आधुनिक कन्नड़ लेखन का जिससे उन्हें मेरी बातों में रुचि जग आयी है। यह वह सामान्य तत्त्व है वर्तमान और आधुनिकता के बोध से जुड़ा भारतीय भाषाओं के बीच, जिसे मैं उनका समगोत्री होना कहता हूँ। मैंने कहा कि सबसे ज़्यादा जो बात मेरा ध्यान खींचती है, वह है प्रसाद और मुक्तिबोध दोनों के ही लेखन में तत्सम शब्दावली का गहरा रचनात्मक संधान और प्रयोग का होना। बावजूद इसके कि प्रसाद औपनिषदिक और वेदांत दर्शन से प्रभावित हैं, तो मुक्तिबोध मार्क्स के आधुनिक साम्यवादी दर्शन से। लेकिन दोनों में सिर्फ़ यही प्रभाव नहीं। दोनों ही परम्परा से एक तरह का प्रयोग करते हैं। और, जो बात मुझे बहुत आकर्षित करती है वह है दोनों ही में अतीत और इतिहास को समझने की चेष्टा इतिहास के किसी विद्वान की तरह झलकती है। दूसरी तरफ़ मुक्तिबोध हमारे नगरों के औसत या उससे कम दर्जे की ज़िंदगी गुज़ारते लोगों के जीवन में डूब कर उसकी समकालीनता के बोध को चरम तीव्रता में पकड़ने की कोशिश करते हैं, जहाँ साहित्यिक रूपों और विधाओं के ढाँचे धीरे-धीरे टूट जाते हैं। वे जितना अपने लेखन में साहित्य या कला शब्द का प्रयोग करते हैं, उतना ही जीवन और जिजीविषा का। साहित्य सब कुछ होकर भी उनके यहाँ हर बार जीवन से कम है। प्रसाद में समकालीनता का मानदण्ड पुरातन वैभव कम उसका द्वंद्व और समाहार ज़्यादा है, जहाँ खोज और विकलता फिर भी नये जीवन की है। लेकिन प्रसाद अंततः 'क्लासिसिस्ट' हैं और दार्शनिक भी, पुरातनवादी क़तई नहीं। वे जितना रूप की मर्यादा को बाँधे रखते हैं, उतना ही विचार की सघनता और गहराई को भी। दूसरी तरफ़ मुक्तिबोध में अपने ढंग से समकालीन हो चला एक पुरातन और एक हद तक मिथकीय लोक-सा दीखता है। मुक्तिबोध की कला किसी 'अलकेमिस्ट' या कीमियागर की तरह प्रभाव रचती है। और फिर मैंने अपनी अंतिम बात रखी, इसके पहले कि मित्र को उसका नया सूत्र दीख पड़ता कवि से कुछ पूछ बैठने का। मैंने कहा कि इन सबके अलावा मेरी स्वयं की भी एक गुत्थी है इन्हें ले कर— वह है दोनों के ही लेखन में रहस्य शब्द की उपस्थिति। जहाँ इतना तीव्र इतिहास-बोध है, वहाँ रहस्य के क्या माने! आधुनिकता, जिसे हम सामान्यतः तर्कवाद और काल की एक-रेखीय अवधारणा से जोड़ कर देखते हैं, इन दोनों के यहाँ रहस्यमय और मिथकीय आकार लेती जाती है। हालाँकि प्रसाद छायावाद को लेकर चली बहसों में अपना शास्त्रीय पक्ष रखते हैं, और मुक्तिबोध अपने साम्य-दर्शन का कठोर तर्क। मुक्तिबोध के यहाँ आधुनिक नौकरशाही, औद्योगिक युग, शहरों का निम्न-मध्यवर्गीय जीवन और आज़ादी के बाद की लोकतांत्रिक राजनीति की अपनी रहस्यमयता है। उनके यहाँ औसत भारतीय मनुष्य सिर्फ़ लोकतंत्र के गणित या उसकी भीड़ की राजनीति की इकाई मात्र नहीं, जिसका नयी राजनीति के विकास के साथ कायाकल्प होना है। मनुष्य की आत्मा और दैनंदिन जगत के रहस्य का एक दुर्निवार आकर्षण मुक्तिबोध के लेखन में फैला पड़ा है। मेरी समझ से दो बिंदु हैं इस फैलाव के, एक तो आधुनिक जीवन के विद्रूप को अपनी अद्‌भुत चित्रमय भाषा के माध्यम से वे रहस्यावृत्त कर डालते हैं। दूसरे, जैसे कि प्रकृति की बहुत आदिम उपस्थिति वे इस आधुनिक जीवन के बीच पाते हैं, जिसे वे अक्सर धुँधले, गहरे और स्याह रंगों के प्रयोग से एक ऐंद्रजालिक प्रभाव देते हैं।

मेरी इन बातों को सुनकर जहाँ मित्र के चेहरे पर एक साथ कई भाव दिखते, वहीं कवि के भीतर आश्वस्ति और आनंद दीखता। मित्र ने अचानक कहा, यह तो अद्‌भुत खेल है, 'हाऊ वुड वन अंडरस्टैंड

इण्डियन मॉडर्निटी देन!' मैंने अचानक ग़ौर किया कि वह कमरे में धीरे-धीरे चहलक़दमी करता बुद्ध और आम्बेडकर की तस्वीरें और प्रतिमाएँ देख रहा था। वे लगभग सभी आकार की थीं, जो मेज़ों से लेकर दीवारों तक फैली हुई थीं। और फिर रुक कर अपनी परिचित सोचती हुई मुद्रा में वह कवि के पास जाकर बैठ गया। उनकी ओर देखते हुए उसने कहा, 'डू यू बिलीव इन दिस, आई मीन इज़ देयर यूज़ ऑफ़ 'रहस्य', मिथिफ़िकेशन, ऑल दैट विच अपीयर्स ऐब्सोल्यूटली इरैशनल इन आर्ट, ऑर फ़ॉर दैट मैटर इन लाइफ़।' मैं 'इरैशनल' शब्द के उसके प्रयोग से सचेत हो गया। हमारी बातचीत का कोई पुराना टुकड़ा जैसा हवा में तैर रहा था। अब वह सूत्रधार मात्र नहीं था, मुझे लगा कि वह मंच के बीचो-बीच खड़ा है, एक सधे नायक की तरह जो दर्शकों को अपने एक-एक शब्द और भंगिमा से बाँध लेता है। मैंने उससे एक बार पूछा था, 'व्हेयर डज़ द मिस्ट्री लाइ, इन वर्ड्स ऑर द एक्सपीरिएंस।' वह प्रसंग था हमारे बीच आधुनिक काल के ठीक पहले की कुछ सदियों में रचे गये काव्य और दर्शन तथा चिंतन की दुनिया को ले कर। पश्चिमी बौद्धिक इतिहास में जिसे हम 'रैशनेलिटी' (तर्कवाद) और 'एनलाइटेंमेंट' (ज्ञानोदय) के युग के रूप में जानते हैं, उसके समानांतर और कई बार तो विपरीत बौद्धिक धाराएँ भी जारी रहीं। पश्चिम में धर्म के इतिहासकार बहुत बारीक़ी से इन प्रवृत्तियों के सामाजिक और बौद्धिक संदर्भ को समझने की कोशिश करते हैं। इस काल के काव्य या कला के संसार में तो ऐसे भेदों को समझना और भी मुश्किल हो जाता है। मित्र ने कवि और मुझसे प्रश्न किया, 'कन्नड़ के वचनों और कबीर के पदों में रहस्य महज़ हम पर शब्द का प्रभाव छोड़ता है, या सचमुच हमें उस काल की संवेदनाओं की अनुभूति होती है!'

मैंने कहा कि यह कितना रोचक है कि दक्षिण भारत की भाषाओं के मध्य और पूर्व-आधुनिक काल के काव्य के विद्वान् डेविड शुलमैन ने अपनी नयी पुस्तक में काव्य और दर्शन पर आधारित कल्पना के इतिहास को यथार्थ से कुछ ज़्यादा अर्थात् 'मोर दैन रियल' कहा है। हमारे आधुनिक मानस को यह बात उलटबाँसी-सी लग सकती है। मित्र ने फिर पूछा, 'लेकिन क्या सचमुच हमारे जीवन और अनुभव के लोक इस क़दर एक दूसरे में घुल-मिल सकते हैं! कम से कम आधुनिकता की सामान्य समझ तो हमें ऐसा सोचने से रोकती है।' फिर उसने याद दिलाया कि स्वयं आधुनिकता का बहुत सारा इतिहास कम-से-कम कला और साहित्य के क्षेत्र में तो इस जद्दोजहद से ही उपजा है, जैसे कि आधुनिकता के भीतर कहीं गहरे एक आदिकालीन या आदिम संसार अर्थात् 'प्रिमिटिव वर्ल्ड' की खोज जारी है। 'बट दिस इज़ अ डैंजरस ज़ोन', कवि ने हमें आगाह करते हुए कहा। वे हमारी बातचीत को इस दिशा में थोड़ा आगे बढ़ते देखना चाहते थे, धैर्य और कौतुक के भाव से। मित्र इस बातचीत में उनकी शिरकत की प्रतीक्षा में ही था। वे स्वयं कुछ कहना चाहते

मुक्तिबोध का पूरा लेखन भारतीय नगरों के भीतर के अँधेरे की कथा है। उसमें तंग गलियाँ हैं, एक दूसरे से सटे मकान हैं, बाहर की चीख-पुकार, कवि, लेखक, दफ़्तर, मज़दूर, सेठ-साहूकार राजनेता और बुद्धिजीवी हैं। और शहर से बाहर बावड़ियाँ हैं, जिनके भीतर की सीढ़ियाँ अँधेरे जल में निमग्न हैं। मित्र कहता है, 'हाउ मिथिकल मॉडर्न लाइफ़ कुड बी।', 'मैं सुन रहा हूँ, मैं सुन रहा हूँ'— कहते हुए वही विस्मय और खुशी कवि के चेहरे पर।

थे, तब तक उसने पूछा, 'व्हाट डू यू थिंक, कैन अ मॉडर्न परसन सी द वैल्यू ऑफ़ इरैशनलिज़म, एट लीस्ट इन आर्ट ऐंड थिंकिंग?' कवि ने कहा, 'बिल्कुल, ऐसा कितना कुछ है जिसे हम नहीं जानते, या जान सकते।' मित्र ने कहा कि मैं आपसे यह उत्तर नहीं चाहता। क्या आप सचमुच ऐसे व्यक्ति की कल्पना कर सकते हैं। उन्होंने कहा, 'हाँ मैं कर सकता हूँ।' लेकिन इससे आगे जो बात उन्होंने कही, उसने हम दोनों को कुछ देर तक सोचने को मजबूर कर दिया। 'यू नो देयर इज़ समथिंग लाइक 'कल्टिवेटेड इरैशनलिज़म', हम ऐसे लोगों को जानते हैं, और वे गम्भीर रचनाकार और विचारक हो सकते हैं, या कोई साधारण जन।' अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा कि वे लोक-परम्परा के विशेषज्ञ हैं, और अपना बहुत सारा जीवन इन चीज़ों के बीच गुज़ारने के बाद 'रैशनलिज़म' और 'इरैशनलिज़म' के विवाद को बहुत तवज्जो नहीं देते। हाँ, कल्पना शब्द लम्बे राजनीतिक सोहबत के बावजूद उनका ध्यान खींचता है, उसी शिद्दत से। शायद एक तरह से वे अपनी बात कह चुके थे। हम कुछ देर चुप रहे, फिर मित्र हँस पड़ा और उसने कहा, 'व्हाट आर वी टॉकिंग, वी आर सराउंडेड बाइ बुद्ध ऐंड आम्बेडकर, दिस इज़ आवर रैशनलिस्ट लिगेसी।'

मित्र ने कवि को याद दिलाया कि ठीक इसके पहले हम आम्बेडकर की बात कर रहे थे, जो घोर बुद्धिवादी थे। तभी मैंने ज़िक्र किया एक दूसरी पहेली का, जो हाल ही मेरे एक अन्य मित्र ने सहज ही मेरे सामने रख दी थी,जब एक पत्र में उन्होंने यह पूछा कि क्या वे सही हैं कि आम्बेडकर के लेखन में 'स्पिरिच्युलिज़म' शब्द का ज़िक्र आता है। कवि हमारी इस बातचीत पर मुस्कुराए। उन्हें इस गुत्थी का भान था, हालाँकि थोड़ा आश्चर्य उन्हें भी था।

कवि मुक्तिबोध की बात नहीं भूले थे। उन्होंने मुझ से पूछा कि मुक्तिबोध के उस रहस्यमय संसार की कोई स्मृति है आपके मन में? क्या आप कुछ याद कर सकते हैं? मुझमें बचपन का डर व्याप गया इम्तिहान के दिनों का, क्या पता कितना कुछ याद रह पाएगा। फिर भी मैंने अपनी स्मृति पर ज़ोर डाला और उनकी पुस्तक *एक साहित्यिक की डायरी* के कुछ प्रसंग और कविताओं की कुछ पंक्तियाँ उभर आयीं मेरे मन में। मैंने उनसे कहा कि मैं उस पुस्तक के शुरू के पन्ने नहीं भूल पाता, जिनमें मुक्तिबोध अपने बचपन के मित्र केशव की बात करते हैं, जो उन्हें जंगलों, पहाड़ों और नदियों की सैर करवाता था। केशव स्वयं बहुत रहस्यपूर्ण था और योग की गूढ़ बातें करता था। इस डायरी को पढ़ते हुए अब मुझे लगता है कि केशव स्वयं मुक्तिबोध का ही एक रूप है। वे केशव के बारे में लिखते हैं कि वह एक स्थिर-प्रशांत पाषाण-मूर्ति की भाँति मेरे साथ रहता। मेरे मन में कुछ काव्य पंक्तियाँ भी इबारतों की तरह झलकने लगीं, जिन्हें मैंने उन्हें सुनाया—

ओ रे निराकार शून्य ... ओ काव्यात्मन फणिधर! ...
नगर के बीचो-बीच/ आधी रात अँधेरे की काली स्याह ...
मीनारों के बीचो-बीच चाँद का मुँह टेढ़ा है ...
हरिजन गलियों में/ लटकी है पेड़ पर/
कुहासे के भूतों की साँवली चूनरी में अटकी है कंजी आँख
गंजे सिर / टेढ़े मुँह चाँद की।

और, वह अप्रतिम भावोद्वेग से भरी पंक्ति मुझे याद आयी— 'मुझे पुकारती हुई पुकार खो गयी कहीं ... प्रलम्बिता अंगार रेख-सा खींचा।' कवि ने मित्र की तरफ़ देख कर कहा, मैं यही सुनना चाहता था, जहाँ ज़िक्र आता है कि 'चाँद का मुँह टेढ़ा' है। वे मेरी ओर आगे बढ़ आये और अपना हाथ बढ़ाते हुए कहा, 'थैंक यू, थैंक यू, इज़ंट दिस आवर ग्रेट पोएट्री!'

मैंने कवि से कहा कि मुक्तिबोध का पूरा लेखन भारतीय नगरों के भीतर के अँधेरे की कथा है। उसमें तंग गलियाँ हैं, एक दूसरे से सटे मकान हैं, बाहर की चीख-पुकार, कवि, लेखक, दफ्तर, मज़दूर, सेठ-साहूकार, राजनेता और बुद्धिजीवी हैं। और शहर से बाहर बावड़ियाँ हैं, जिनके भीतर की सीढ़ियाँ अँधेरे जल में निमग्न हैं। मित्र कहता है, 'हाउ मिथिकल मॉडर्न लाइफ़ कुड बी।', 'मैं सुन रहा हूँ, मैं सुन रहा हूँ'— कहते हुए वही विस्मय और खुशी कवि के चेहरे पर। बाद में कवि की आत्मकथा पढ़ते हुए मैं जान पाया कि क्यों ऐसा आकर्षण था उनके भीतर नगरों की मुक्तिबोध की इस चर्चा में। उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या मुक्तिबोध हिंदी के सबसे बड़े मार्क्सवादी लेखक हैं! मैंने कहा, 'शायद मार्क्स उनके लिए हमारे समय के सबसे ज़रूरी दार्शनिक थे। लेकिन मालवा, बुंदेलखण्ड और छत्तीसगढ़ के इलाक़ों में रहे लेखक की दुनिया में जितनी वहाँ की वनस्पतियाँ हैं, उतने ही गाँधी। जबकि स्वयं गाँधी मुक्तिबोध के यहाँ एक चरित्र भी हैं— कभी पुरानेपन को ढोते, तो कभी भारतीय नैतिकता को खोजते सनातन हिंदू जीवन के आदर्शों में, और कभी वह एक ऐसी मूर्ति होते भारतीय लोकतंत्र की जिसे तोड़ कर ही सब कुछ खड़ा किया जाना था। गाँधी के व्यक्तित्व से लेखकों और विचारकों का बहुत जटिल रिश्ता रहा है। गाँधी में कुछ टूटता नहीं, सब कुछ जोड़ा जाना बाक़ी है।'

ऐसे समाज या राजनीति-दर्शन से मार्क्स कितने अलग हैं, जहाँ सब कुछ बदला जाना है। मैंने कहा कि साहित्य या कला ही मुक्तिबोध के सच्चे आवास थे, जिसका वे पूरा नया वितान खड़ा करते हैं सामने खड़े संसार के बरअक्स। और, चूँकि साहित्य या उसका सिद्धांत भी एक बड़ा तंत्र है अपने आप में, इसलिए किसी भी नये स्थापत्य के लिए वहाँ भारी तोड़-फोड़ की ज़रूरत होती है। मुक्तिबोध एक मज़दूर की तरह वहाँ खटते नज़र आते

ओरु, जहाँ किसी गाँव की उच्च और ग़ैर-दलित जातियाँ रहती हैं, और केरी, जहाँ उसकी सीमा से बाहर दलितों का बसेरा होता है। ... कवि ने अपनी आत्मकथा में बाहर और भीतर का द्वंद्व दिखाया है। ... बाहर और भीतर, स्वीकार और बहिष्कार, का यह द्वंद्व कई रूपों में चलता रहता है। साथ ही वह जो केंद्र है, भीतर है, गर्भ-गृह है, उसके भीतर भी एक बाहर बसता है, जैसे कि जो बाहर है, उसके भीतर केंद्र है। लेकिन यह कोई समाहार नहीं, इस द्वंद्व का, बल्कि इस ओर इशारा है कि नये की कल्पना दोनों के भीतर से शुरू होनी चाहिए।

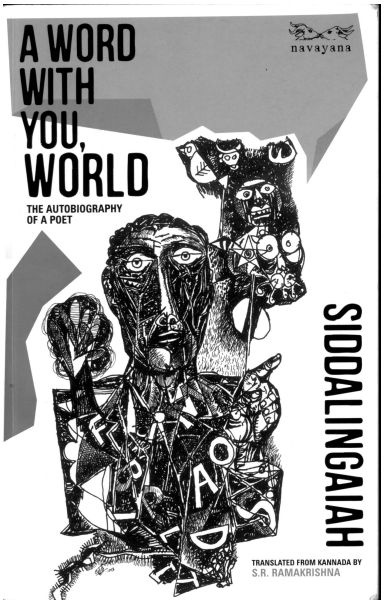

कवि की आत्मकथा! तटस्थ लेकिन चित्रमय दृष्टि। साफ़ मुलायम ब्रश स्ट्रोक्स जैसा लेखन। कई घटनाएँ जैसे एकरंगी छायाओं जैसी रची गयी हैं। उनमें एक साथ उदासी, हास्य और तटस्थता का पुट है। करुणा का स्वर बहुत संयत, आत्म-दया क़तई नहीं। कई वर्णन पुरानी सादी फ़ोटोग्राफ़ी जैसे हैं, जिसका अलग से प्रभाव रह जाता है, हमारे मन पर। हिंदी में महादेवी वर्मा ऐसे चित्र खींचती थीं, अपनी अत्यंत सधी और प्रांजल भाषा में, जिन्हें वे रेखा-चित्र कहती थीं।

हैं, लहूलुहान, थके, फिर उठते, पैरों की पिण्डलियाँ चमकतीं, सीने और पुट्ठे बोझ उठाते। यह कविता कारख़ानों, मज़दूर बस्तियों और चौराहों पर रची जा रही है। मित्र ने यह सब सुन कर सिर्फ़ यह कहा, 'बट कैन लिटरेचर ऑर आर्ट टेक दिस बर्डेन, दिस मच!' कवि ने धीरे से सिर हिलाया और कहा, 'इट शूड, इट मस्ट।' मैंने अपनी आख़िरी बात कही कि मुक्तिबोध हिंदी के आख़िरी क्लासिकी कवि हैं। मित्र को यह बात बेहद मज़ेदार लगी। मैंने फिर सुधार कर कहा, 'या फिर पहले एंटी-क्लासिकल कवि।' यह लेखन भाषा के सारे स्रोतों और विरासत को एक बड़े भँवर में डाल देता है। इस क़दर वे एक मिथकीय कवि भी हैं, जो तत्सम की सान पर चढ़ती भाषा को अँधेरी गलियों में ला पटकता है, या उझंख आसमान में उछाल डालता है। और तब वर्तमान मिथक सरीखा जान पड़ता है।

मैं बाद में मुक्तिबोध और कवि की लेखन-शैली के बीच के अंतर के बारे में सोचता रहा। दोनों में एक गहरी दृष्टि है जीवन की अनुभूतियों को एक दृश्य में बदल देने की। लेकिन दोनों की चित्रात्मकता की शैली एक दूसरे से कितनी भिन्न है, यह भी बात ग़ौर करने की है। कवि जैसे घटनाओं को उसकी सहजता में उकेर देते हैं, बिना किसी जोड़-घटाव के। उनके इन चित्रों का बहुत देर बाद हमारे भीतर अर्थ उभरना शुरू होता है। वे चित्र इतने सटीक जान पड़ते हैं कि वह सटीकपन हमें एक तरह का छल या आवरण जान पड़ता है। अर्थ की बहुत धीमी चाप सुनाई देती है ऐसे लेखन में, लेकिन उसकी अनुगूँज समय के साथ हमारे भीतर बनी रहती है। शब्द इतने सहज कि जैसे अमिट हों। मुक्तिबोध के यहाँ इसका ठीक उल्टा है।

जैसे वे जो हमें दिखता है और जो अनुभूत या दृश्य है, उसे झूठा ठहरा देते हैं। उनका ही प्रिय शब्द 'फ़ैंटेसी' न कि बार-बार उनके लेखन, बल्कि उन पर होते रहे तमाम लेखन का बीज-शब्द बन चुका है। वह जो प्रतिदिन घटित होता है आम भारतीय जीवन में, उसमें कुछ भी सच नहीं, वह एक विराट तिलिस्म का हिस्सा है। जीवन, कला, और राजनीति मुक्तिबोध के यहाँ इस तिलिस्म में एकमेक हैं। और शायद इसीलिए इनमें कोई भेद मुक्तिबोध के साहित्य में नहीं बचता, न ही वह साहित्य-शास्त्र ही अलग-थलग दीखता है, जो उसके समानांतर वे रच रहे थे। मुक्तिबोध कहते हैं कि जो सहज है, वह भी एक आवरण है, वह रहस्यमय है, हमारी आदतों और मजबूरियों की वजह से। यहाँ कवि से उनकी समानता है। लेकिन उनके यहाँ उस पर से पर्दा हटते ही वहाँ भयावह दृश्य उभरते हैं।

मेरी बातों को कवि कौतुक और विस्मय से सुनते रहे। अचानक लगा जैसे खुद मैं भी अपने आप को सुन रहा था, थोड़े अपरिचय के साथ। लगने लगा जैसे ये सारी बातें मुक्तिबोध और उनके लेखन के बहाने साहित्य के बारे में मेरे भीतर जमा हो रही थीं। ये मेरे अपने ही अनलिखे नोट्स थे।

मैंने कवि से कहा कि मैं लम्बे समय तक मुक्तिबोध के लेखन को एक लम्बे असमाप्य वाक्य की तरह देखता रहा हूँ, जैसे वह कवि या लेखक मात्र न हों बल्कि कोई दार्शनिक या कारीगर हों शब्दों के। जो अर्थ का नया शास्त्र हर रोज़ के अनुभव और निम्न-मध्यवर्गीय भारतीय जीवन की सतह पर उभारना चाहता हो। मुक्तिबोध हमेशा घटनाओं के भीतर गहरे छिपे अर्थ को उद्घाटित करना चाहते हैं। अब मैं अक्सर सोचता हूँ कि उनके यहाँ एक ऐसी भाषा है जो चित्रलिपि जैसी है, जो कि रंगों में सोचती है, विविध आकृतियों का तिलिस्म खड़ा करती है। दूसरी तरफ़ कवि की कला एक अन्य परम्परा से जुड़ी है और भाषा के इस तिलिस्मी खेल से कितनी अलग है। उसके यहाँ मानों चीज़ों के भीतर का रहस्य उसके दीखने भर में है। परंतु ये दोनों ही भारतीय साहित्य और जीवन की भले ही भिन्न दृष्टियाँ रही हों,एक दूसरे की पूरक भी हैं।

कवि ने कहा, 'अब मैं मुक्तिबोध को बिल्कुल अलग रोशनी में देख रहा हूँ, और मेरी रुचि और गहरी हो गयी है उनको पढ़ने में।' एक समय वे उठ खड़े हुए, जैसे वे मुझे रचनावली के सारे खण्ड दिखाना चाहते हों। एक दलित लेखक के सामने मैंने वंचना की एक और कथा बयान की थी। भारतीय लोकतंत्र के उजाड़ की कथा। जो राजनीति-शास्त्र की किताबों में स्वतंत्र भारत में राजसत्ता के बनने के दिन थे, वे लेखकों के लिए कुछ और थे। 'समाज-विज्ञान तब क्या हर बार तंत्र की कथा कहता है, क्या आधुनिक जीवन सिर्फ़ तंत्र का खेल है', मित्र ने पूछा! उसने इस बात को आगे बढ़ाते हुए कहा कि यदि साहित्य की दुनिया में जिस लोकतंत्र को बहुत पहले ख़ारिज किया जा चुका था, वह कैसे समाज-विज्ञान में अलग रूप में एक राष्ट्र-निर्माण की कथा के रूप में बना रहा। हम दोनों इस बात को लेकर सचेत थे कि समाज-विज्ञान की प्रविधि में सिद्धांतों और प्रक्रियाओं के साथ गहरे शोध और विवेचना की दरकार होती है। लेकिन समाज की तरफ़ से उसके बारे में लिख रहा लेखक उससे एक अलग ध्रुव पर बैठा जान क्यों पड़ता है! 'यह द्वैध क्यों है! क्या समाज-विज्ञान के सिद्धांत बाहर से आते हैं और लेखक के अनुभव इसी समाज से जुड़े होते हैं, सिर्फ़ इसलिए?', कवि ने हमारी बातचीत में जोड़ा।

अपने शहर वापस लौटने के बाद मुझ पर मित्र और कवि से इस संवाद की छाया लम्बे समय तक रही। बाद में मैंने कवि और मित्र को मुक्तिबोध की जिन कुछ पंक्तियों को स्मृति से सुनाया था, उनके ठीक आगे की ये पंक्तियाँ लिख भेजीं। मुक्तिबोध लिखते हैं, 'मुझे लगता है की भूमि के गर्भ में कोई प्राचीन सरोवर है। उसके किनारे पर डरावने घाट, आतंककारी देव-मूर्तियाँ और रहस्यपूर्ण गर्भ-कक्षोंवाले पुराने मंदिर हैं। इतिहास ने इन सबको दबा दिया। मिट्टी की तह पर तह, परतों पर परतें, चट्टानों पर चट्टानें छा गयीं। सारा दृश्य भूमि में गड़ गया, अदृश्य हो गया। और उसके स्थान पर यूकैलिप्ट्स के नये विलायती पेड़ लगा दिये गये। बंगले बना दिये गये।'

फिर मैंने आगे का यह अंश लिखा जिसमें योग और रहस्य की दुनिया में विचरने वाले केशव के सामने मुक्तिबोध कहते हैं, 'मुझे लगता है कि मन एक रहस्यमय लोक है। उसमें अँधेरा है। अँधेरे में सीढ़ियाँ हैं। सीढ़ियाँ गीली हैं। सबसे निचली सीढ़ी पानी में डूबी हुई है। वहाँ अथाह काला जल है। उस अथाह जल से स्वयं को ही डर लगता है। इस अथाह काले जल में कोई बैठा है। वह शायद मैं हूँ। अथाह और एकदम स्याह-अँधेरे पानी की सतह पर चाँदनी का एक चमकदार पट्टा फैला हुआ है, जिसमें मेरी ही आँखें चमक रही हैं, मानों दो नीले मूँगिया पत्थर भीतर उद्दीप्त हो उठे हों।' मैंने इस बात का भी ज़िक्र किया कि कोई भी इन पंक्तियों को सुन कर एक सिहरन का अनुभव करता है, और तब मैं अपनी बातचीत में आप लोगों को इस का आशय भर ही सुना पाया था। लेकिन शायद इस अंश में मुक्तिबोध के लेखन का मूल स्वर उभर आता है। और यह भी लिखा कि इनके अनुषंग में उनकी कई ऐसी पंक्तियाँ रखी जा सकती हैं, जो निम्न-मध्यवर्गीय जीवन की हाड़तोड़ जिजीविषा से उपजती है। मैंने मन-ही-मन कल्पना की कि मित्र अपने अंदाज़ में पूछ रहा है, 'इज़ दिस मोर दैन रियल!'

प्रसाद और मुक्तिबोध दोनों ही औपनिवेशिक शासन के दौरान नये भारतीय राष्ट्र और समाज की आधुनिकता की तलाश कर रहे थे। फिर मैंने कहा कि यह बात ध्यान देने की है कि दोनों के बीच इस ऐतिहासिक विवाद के बावजूद गहरी समानताएँ थीं। मित्र ने कहा, मैं समझ सकता हूँ। वह स्वयं आधुनिक कन्नड़ साहित्य के वैचारिक ताने-बाने में गहरी रुचि रखता है। और, फिर मित्र और कवि के बीच कुछ क्षणों तक एक मौन संवाद चलता रहा।

******

आत्मकथ्य की ऋजुता

एक दिन, जब हम ढही हुई दीवार पर खड़े अपने माता-पिता की बाट जोह रहे थे, हमने कुछ ख़ास भाँपा। एक आदमी ने दो और लोगों के कंधों पर जुए बाँध रखे थे और ऐनोरू के खेतों को जोत रहा था। दो लोगों को बैलों की तरह खेत जोतते देखना बहुत अजीब था, जबकि तीसरा उनके पीछे चाबुक हाँकता और जोतता चल रहा था। तब मैंने समझा कि उसमें से जुए ढोता एक आदमी मेरे पिता थे। उसी क्षण एक विचित्र व्यथा ने मुझे जकड़ लिया। कुछ औरतें हमारे पास दौड़ते हुए आयीं और उसाँस भर कर कहा, द्यवन्ना पर कैसी विपदा आ पड़ी है। इससे मेरी पीड़ा दुगुनी हो गयी। पूरे दिन किसी बैल की तरह खट कर जब मेरे पिता घर लौटे तो मेरी माँ ने थोड़ा तेल गरम कर उनके कंधों की मालिश की।

—कवि की आत्मकथा, *ओरु केरी*

हमारा घर बहुत छोटा था। उसमें चार या पाँच लोगों के लिए ठीक से बैठने की भी जगह नहीं थी, सोने की तो बात ही नहीं उठती। मैं ज़्यादातर अपने घर से बाहर रहा करता था। मेरे घर से होकर गुज़रते रास्ते पर मैं पूरब की तरफ़ बढ़ता चला गया, और एक बेहद फैले हुए क़ब्रगाह में जा पहुँचा। मैं अंदर घुसा और ख़ूब लम्बे पेड़ और चारों तरफ़ फैले रंगीन फूलों वाले पौधों को देखा। मैं क़ब्र के पत्थरों को आश्चर्य से निहारता रहा। किसी कारण मुझे क़ब्रगाह की जगह बहुत अच्छी लगी, और अब मैं हर शाम वहाँ जाने लगा। मैं किसी क़ब्र के पत्थर पर बैठ जाता, और मेरे मन में कविता की पंक्तियाँ आप ही आप उभरती जातीं। मैं उन्हें लिखने लगा। मैंने अपने चारों तरफ़ सन्नाटे और मौन का अनुभव किया।

—कवि की आत्मकथा, *ओरु केरी*

इस बीच आजकल मैं ख़ाली समय में कवि की आत्मकथा पढ़ता हूँ। अंग्रेज़ी अनुवाद में पहले पृष्ठ पर उनकी ही कविता की ये पंक्तियाँ छपी हैं : 'किसने रोक रखा है समय पर आने वाली बारिश को ?/ किसने तारों पर लगा रखे हैं निशान इंद्रधनुष के ?/किसने छिपा रखा है सूर्य को ताकि अँधेरा बढ़ कर घिर आये/ ... ऐ लोक, मैं तुम्हें जानना चाहता हूँ/ और इस कारण, मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ।'

मेरे मन में अब इस आत्मकथा की स्पष्ट छवि उभर रही है। जैसी विकलता, संयम और

मितभाषिता इन काव्य पंक्तियों में दिखती है, आत्मकथा का गद्य उससे अछूता नहीं। लेकिन जाने-पहचाने अर्थों में कथा काव्य नहीं हो, यह कवि का प्रयास दिखता है। आत्मकथा अपना गद्य रचती है, वह सही मायने में न कविता हो सकती है, न ही पूरी कथा। आत्मकथा के जिन अंशों में, और अधिकांश ऐसे ही हैं, हम द्रवित होकर फूट पड़ने को होते हैं, कवि किसी ग्रीक स्टोइक दार्शनिक की तटस्थता के साथ दृश्य बदल डालता है। हालाँकि इस तटस्थता के भीतर छिपा गहरा मानुष मर्म देर तक हमारे भीतर घुलता रहता है। कुछ दिनों पहले मुझे जिस व्यक्ति के साथ आमने-सामने बैठ कर बातचीत का अवसर मिला था, उसके हाथों ही सौंपी गयी उसके जीवन की कथा अब मेरे सामने है। कवि से यह मेरा नया परिचय है। मैं जो तब उनके प्रश्नों के उत्तर देता रहा था उस मुलाक़ात में, अब उनके जीवन की कथा सुनता हूँ। आत्मकथा में वह जो जीवन का गोपन पक्ष हो सकता है, वह अपने सच का भार लिए प्रकट होता है। लेकिन क्या हर आत्मकथा भी अंततः कथा ही नहीं है, हमारे ही जीवन का गल्प नहीं है, और इसलिए क्या यह सोचना ग़लत होगा कि उसके कथ्य में भी कोई आवरण अवश्य पड़ा रहता है। वह आवरण सिर्फ़ भाषा या शिल्प का नहीं होता, जीवन-कथ्य का भी होता है। क्या जीवन की घटनाएँ सही ढंग से हमारे लिए ग्राह्य होती हैं, और यदि ग्राह्य हों भी तो क्या आत्म की कथा बनाते समय कुछ और नहीं हो जातीं। दूसरी तरफ़ क्या किसी और के जीवन का कथ्य हमारे लिए बिना हमारे अनुभव का हिस्सा बने ग्राह्य हो सकता है। आत्मकथा का सत्य अपनी गोपनीयता या निजीपन से बाहर आने के कारण महत्त्वपूर्ण नहीं होता, बल्कि हमसे एक तरह की आत्मीयता की भी माँग करता है, वह पाठक के आत्म से संवाद होता है। किसी की आत्मकथा पढ़ते समय क्या एक समानांतर आत्मकथा, पाठक के अपने आत्म की कथा, उसके भीतर नहीं चलने लगती। यह एक गहरा आत्मिक संवाद भी होता है। अन्यथा एक आत्मकथा में जो ब्योरे होते हैं, वे किसी भी जीवन को समग्रता में देखने पर तत्त्वतः बहुत अलग नहीं होते। लेकिन हर आत्मकथा में एक विशिष्ट स्वर या टोन होता है, जो उससे हमारी अंतरंगता स्थापित करता है।

कवि की आत्मकथा! तटस्थ लेकिन चित्रमय दृष्टि। साफ़ मुलायम ब्रश स्ट्रोक्स जैसा लेखन। कई घटनाएँ जैसे एकरंगी छायाओं जैसी रची गयी हैं। उनमें एक साथ उदासी, हास्य और तटस्थता का पुट है। करुणा का स्वर बहुत संयत, आत्म-दया क़तई नहीं। कई वर्णन पुरानी सादी फ़ोटोग्राफ़ी जैसे हैं, जिसका अलग से प्रभाव रह जाता है, हमारे मन पर। हिंदी में महादेवी वर्मा ऐसे चित्र खींचती थीं, अपनी अत्यंत सधी और प्रांजल भाषा में, जिन्हें वे रेखा-चित्र कहती थीं। कवि अपनी बाल्यावस्था के गाँव के स्मृति-लोक को शहर की बस्ती में आकार लेते देखता है, बिना किसी कड़वाहट और दंश के। लेकिन यह ज़िंदगी जो किसी भारतीय महानगर की बस्तियों में चलती रहती है, वह जैसे उस लोक का अत्यंत तपा हुआ रूप होती है, जिसमें वंचना, स्मृति, मुक्ति और आशा एक साथ किसी वर्त्तुल आवर्त्त में बँधे रहते हैं। यह लोक शहर का होकर भी उसका नहीं होता, शहर उसे अपने हाशिये पर जीने भर का अधिकार देता है। कई रूपों में ग़रीबों और वंचितों का यह शहर किसी तलघर सा होता है, जो कि शहर की चर्चा में दबा रह जाता है, दूसरी तरफ़ शहर जैसे उसके ही ऊपर खड़ा रहता है। जहाँ शहर की ग़रीबी को निरंतर आशा के तर्क से दर्शाया जाता है, जबकि होता वहाँ सिर्फ़ 'लॉजिक ऑफ़ सरवाइवल' है, और गाँव देहात की गुलामी से आज़ादी। वैसे शहर की कहानी है कवि की यह आत्मकथा। भीतर जो जीवन रचा जा रहा होता है, उसमें गाँव के वही पुराने लोग भले नहीं हों, लेकिन वहाँ के दृश्य, खुलापन, प्रकृति और संबंधों की स्मृति बँधी होती है। इस आत्मकथा के संसार की प्रकृति कुछ ऐसी ही है,लेकिन उस छूटे संसार का कोई व्यामोह नहीं है यहाँ।

यह लेखक की अपनी कथा है, इसलिए संकोच, कुतूहल, और अपनी सीमा लाँघ जाने का भय हमारे भीतर बना रहता है। लेखक आत्मकथा में अपनी तस्वीर खड़ी करता है, हम उसे जैसे उसकी मेज़ और कमरे के पार से देख रहे होते हैं। कवि की आत्मकथा में वर्णन की सहजता बिल्कुल व्यवहार

की सहजता जैसी जान पड़ती है। मैं सोचता हूँ, इस शैली को हम क्या नाम दे सकते हैं। फिर मन में एक विचार आता है— 'आत्मकथ्य की ऋजुता'। यानी सीधी-सरल रेखा जैसा जीवन। प्रेमचंद कहते थे कि उनका जीवन एक समतल सपाट मैदान की तरह है, लेकिन उनकी जीवनी बताती है कि वह किसी भी जीवन की तरह था। कहीं ज़्यादा ऊबड़-खाबड़। फिर ऋजुता जीवन के घटनाक्रमों की नहीं, व्यक्तित्व और चरित्र की होती है, भाषा हमारे लिए उसे सिर्फ़ ग्राह्य बनाती है, उसमें उसकी छाप होती है।

अंग्रेज़ी में अनूदित एक कन्नड़ रचना, वह भी एक आत्मकथा, को पढ़ते हुए मैं सोचता हूँ कि किस हद तक मैं इसकी भाषा या शैली के बारे में कोई धारणा बना सकता हूँ। लेकिन इतना ज़रूर समझ पाता हूँ कि यह निश्चय ही बहुत सहज कन्नड़ में रही होगी। अनुवादों में मूल भाषा की ध्वनियाँ भले छूट जाएँ, मूल की कोई लीक या स्वर बचा रह जाता है। 'ट्रांसलेशन इज़ अ मोड', वाल्टर बेंजामिन अनुवाद पर अपने प्रसिद्ध लेख में कहते हैं। अनुवाद के बावजूद आत्मकथा में लेखक के स्वर और आख्यान के विन्यास की झलक मिलती है।

गाँव, शहर, गली-मुहल्ले, भूत-प्रेत, कथावाचक, सपनों में तैरते लोग, कन्नड़ साहित्य और विद्वान, राजनेता, बुद्धिजीवी, विश्वविद्यालय, राजनीतिक और साहित्यिक सभाओं से लेकर न जाने कितने प्रसंगों की आवाजाही है इस आत्मकथा में। लेकिन पहले खण्ड में गाँव की स्मृतियाँ, जो धीरे-धीरे शहरी मुहल्ले में नया जीवन पाती हैं, के कई मार्मिक चित्र हैं। कवि एक जगह अपने पिता को याद करते हुए कहता है कि उसमें अपने पिता-सा ही एक भला आदमी छिपा है। शायद व्यक्तित्व का यही भलापन है जो कवि की आत्मकथा की शैली को विशिष्ट बनाता है। 'मेरे पिता एक भले स्वभाव के व्यक्ति थे उनके इस गुण का कुछ दाय मुझमें भी है। लेकिन ज़रूरत पड़ने पर वे अपनी ज़मीन पर खड़े होते थे।' कवि आगे इस ओर संकेत करता है कि इस भलाई के भीतर कहीं एक दृढ़ता भी छिपी थी, जो पिता के चरित्र में समय-समय पर झलकती थी। वंचना के भीतर स्वाभिमान का यह चित्र बिना किसी अहंमन्यता या अभाव की तिक्तता के साथ इस आत्मकथा में बार-बार प्रकट होता है।

यहाँ रोग-ज्वर, व्यथा-कथा उतनी ही शिद्दत से आते हैं, जितने कि देवी-देवताओं के चमत्कार। शहर की कॉलोनी में हैजे के फैलते ही घबराए लोगों में से किसी ने एक दिन अपने घर में सफ़ेद कुर्ती पहने और माथे पर सिंदूर लगाए एक स्त्री को देखने की बात कही। इससे पहले कि उससे घर के लोग उसके बारे में पूछते वह ग़ायब हो गयी। लोगों का कहना था कि वह मारम्मा देवी ही हो सकती थीं। सबने पैसे जुटा कर उनके सम्मान में एक पर्व की तैयारी की, जिसमें वे एक पुरुष को वश में कर बैठीं। यह पूछे जाने पर कि वे हैजा क्यों ले आयीं, उनकी आँखों से सिर्फ़ आँसू बहते रहे। लोगों ने समझा कि कलयुग में उन्हें और क्या मिल सकता था! बुरी आत्माएँ अक्सर स्त्रियों पर सवार हो जातीं। एक दफ़ा ऐसी ही एक आत्मा के वश हुई स्त्री चीखती और अपने पति को धक्के देती, न लोगों ने ही न ही उसके पति ने ऐसा करने से उसे रोका, क्योंकि वह वशीभूत थी। इसी प्रकार एक स्त्री एक बार यमलोक से होकर वापस अपनी कॉलोनी में लौट आयी। अपने अंतिम संस्कार से पहले उसे यम घसीट ले गया, यम ने उससे उसका पता पूछा और अपने संदेशवाहकों को वापस किसी दूसरी गली से उसी नाम की स्त्री को लाने को कहा। यमलोक में पृथ्वी पर लौटाने से पहले पहचान के लिए उसकी पीठ पर एक दाग़ छोड़ दिया गया। अपनी चिता पर वह अचानक उठ बैठी, और लोग भाग खड़े हुए। फिर उसने पूरी कथा सुनाई और लोगों को शांत किया। कवि कहता है कि सच्चाई चाहे जो भी रही हो, उसने खुद अपनी आँखों से वे दाग़ देखे थे, और चकित था।

ऐसे प्रसंगों के चित्रण में कवि उनकी यथार्थता और सच-झूठ से परे लोगों के जीवन से उन्हें इस क़दर जोड़ देता है कि वे किसी और लोक की बातें न प्रतीत होकर धरती के जीवन का ही हिस्सा

जान पड़ती हैं। इस जीवन में देवी-देवता गढ़े जाते हैं,और जैसे ये मनुष्यों के ही प्रतिरूप बन कर अपनी एक नयी पहचान से लैस होकर किसी एक जीवन में दाख़िल होते हैं। कवि के चारों तरफ़ जीवन अपने हज़ार रूपों में इस क़दर आकार लेता है कि यह कहना मुश्किल है कि जीवन और मिथक में कितना फ़र्क़ है। और हर बार वह स्वयं भी इन के भीतर डूबता उतराता है, चाहे वह मुहल्ले के कथावाचक का जादू रहा हो या सड़कों पर बसर होती ज़िंदगी का निजीपन।

आत्मकथा धीरे-धीरे कवि के ग्रामीण लोक को शहर में उतार लाती है। कथा शुरू होती है एक बच्चे के शहर में आने से, उस उम्र में जबकि उस पर अपने संसार की सारी छवियाँ गहरे रंगों में उतर रही होती हैं। आगे चल कर कवि का लोक-परम्परा का विद्वान् होना, जैसे इस लोक से एक नया रिश्ता बनाने जैसा है। वह अपने बचपन के स्मृतियों के लोक को ज़िंदा पाता है, शहरी परिवेश में भी, और अपने शहर में जिये लोक-जीवन को उसी क्रम में चित्रित करता है। शहरी जीवन का जो चित्र इस आत्मकथा में है, वह हमारे शहरों के भीतर छिपे लोक-जीवन को दर्शाता है। यह योजना-विशेषज्ञों का शहर नहीं, न ही वह शहर है जिसमें तीसरे विश्व के आधुनिक मनुष्य को बनाया और बसाया जाना है। यह वह शहर है, जो लोग अपने भीतर लेकर घूमते हैं, और इसके बाशिंदे न अपने छूटे हुए गाँव लौट पाते हैं, न ही ठीक-ठीक इस शहर के ही होते हैं। अभाव के ऐसे दृश्यों से जोड़ कर भारतीय जीवन की अधिकांश कथा रची गयी है, लेकिन अभाव कई बार ऐसा जिसकी कोई देहरी नहीं, कोई सीमांत नहीं।

लोक सिर्फ़ यह संसार नहीं होता, उसके भीतर गुँथे कई प्रति-संसार भी होते हैं। कवि उस प्रति-संसार को जीता हुआ, उन्हें जानना भी चाहता है। एक ऐसा ही प्रति-संसार है, देवताओं और पूजा स्थलों का। कवि एक जगह लिखता है, 'हमारी कॉलोनी में एक मारी मंदिर था, और मारी उत्सव भारी श्रद्धा से मनाया जाता था। मंदिर की पुजारिन एक वृद्धा थीं, जो मेरे परिवार की दूर की रिश्तेदार थीं। देवी मारम्मा इस स्त्री को यदा-कदा अपने वश में कर लेती। इन दृश्यों को देखना बहुत डरावना होता था, फिर भी मैं थोड़े गर्व से यह जानता था कि यह स्त्री हमसे जुड़ी थीं, और इस बात से निश्चिंत भी था कि देवी किसी भी प्रकार से हमारा नुक़सान नहीं करेंगी।' अपने उस लोक को, जिसमें देवी-देवता प्रकट होते, वशीभूत और सपनों में खोये लोग होते, और चाचा *जैमिनी पुराण* पढ़ते, कवि खानों में बाँट कर नहीं देखता, बल्कि अद्‌भुत सहज स्वीकार्यता में दर्शाता है। वंचनाओं के बावजूद इस आत्मकथा में स्मृतियों के ऐसे प्रसंग हैं, जिनमें अभावों के बीच मनुष्य तटस्थ भाव से उसके पार भी देख सकता है। वे अनुभवों को स्मृतियों में बदलते हैं, जिनमें अभाव के बावजूद एक उच्छलता और प्रियता है। इस अनुभव-लोक में ऐसा कुछ है, जो मनुष्य को पूरी तरह से टूटने नहीं देता। लेकिन एक दलित आत्मकथा अभाव और वंचना के शब्दों या क्रियापदों से ही तो अधिकांशत: रची जाती है। उस अभाव के बखान में एक दूसरी कथा भी कही जाती है, जो सामने फैले संसार की होती है, सिर्फ़ अपनी नहीं।

आत्मकथा की पहली पंक्ति है— 'दलित कॉलोनी में हमारा घर आख़िर में था।' ऐसे जीवन की कथा अंत और हाशिये के वर्णन से ही शुरू होती हैं। कवि इस अभाव के परे जैसा कि अंग्रेज़ी अनुवाद में कविता की पंक्तियाँ बताती हैं, संसार से भी मुख़ातिब है। हाशिये का होकर भी लेखक पूरे संसार की बात करता है, उसको जानना चाहता है, उससे बात करना चाहता है। लेकिन कवि जिस संसार को जानना चाहता है, उसकी व्यापकता को लेकर वह आश्वस्त है। इस संसार की समग्रता को लेकर उसकी अपनी दृष्टि है। लोक-जीवन का अधिकांश वंचितों का ही है, लेकिन लेखक का अपना संसार कहीं ज़्यादा बड़ा है। शहर की उस अंतिम गली के मकान से लेकर बचपन का वह लोक-जीवन ही था, जिसके वे अध्येता बने। कवि के मित्र और सहयात्री डी.आर. नागराज उनके इस अभाव के भीतर पुनर्रचना के संकल्पों की पहचान रखते थे। उनके बारे में नागराज ने लिखा है कि वे कैसे सिर्फ़ एक क्रुद्ध या दलित लेखक ही नहीं

हैं, बल्कि वे सामाजिक टकराव के बजाय सांस्कृतिक स्वीकरण और पुष्टि की राजनीति रचना चाहते हैं। यह उनका दलित साहित्य के सामाजिक प्रतिरोध के सरोकार से पीछे हटना नहीं, बल्कि एक नयी दृष्टि और जीवन-दर्शन की माँग है। ऐसे में, नागराज आगे कहते हैं, यह सोच आत्म-दया और प्रताड़ना की चीख से उपजे मुहावरों और रूपकों से आगे जाने की भी माँग है। यह सौंदर्य का दर्शन और आध्यात्मिकता में बदलना है, और एक नयी राजनीति की पहल भी। राजनीतिक क्रोध और सामाजिक रोष से आगे जाता दलित सोच कवि में उसे सौंदर्य और लोक के विराट संसार के सामने खड़ा करता है, और इस प्रकार उसका संवाद दलित देवी-देवताओं से भी शुरू होता है।

आत्मकथा में अपने स्कूल और शहर के दलित छात्रावास से जुड़ी घटनाओं का विशेष और अंतरंग महत्त्व है, क्योंकि कवि की माँ वहाँ काम करती थीं और उसे कई तरह के उलाहने सुनने पड़ते थे। ये वे दिन थे जब कवि याद करता है कि सिर्फ़ माँ का वहाँ खटना ही नहीं, बल्कि कभी-कभार पिता, जो कि जैसे 'ग़रीबी के चलते-फिरते प्रतीक थे', का वहाँ आना और इन सबसे उपजी टीस को याद करना था। लेकिन एक दलित छात्रावास के जीवन से बड़ी जीवन की प्रयोगशाला क्या हो सकती थी, जहाँ सब अलग-अलग क़िस्म की कन्नड़ बोलते, एक कमरे में कई बार तो तीसियों लड़के सोते, और सबकी देह पर एग्ज़िमा के निशान होते। कुछ ही पंक्तियों के बाद कवि छात्रावास का चित्र खींचता है, जिसका अहाता लगभग चार एकड़ में फैला था, और जिसके भीतर के जीवन के अपने रहस्य और चमत्कार थे। कवि लिखता है, 'अँधेरा होते ही छात्रावास का मैदान किसी भुतहे लोक में बदल जाता था। छात्रावास के भीतरी आँगन में एक विशाल चम्पक का वृक्ष खड़ा होता। वह जब फूलता था, तो उसके नीचे की धरती सुगंधित पीले फूलों से पटी पाई जाती। गोधूलि होते ही हम सब उस वृक्ष के पास जाने से डरते, क्योंकि यह अफ़वाह थी की वह भुतैला है। हमने जब सुना कि कई भूतों ने उस पेड़ पर अपने कुटुम्ब बसा रखे हैं, तब हम उसकी ओर देखना भी नहीं चाहते थे।'

एक अत्यंत मन को छू जाने वाला इस छात्रावास जीवन से ही जुड़ा प्रसंग स्कूली बच्चों की प्रार्थना को लेकर है। सुबह सुबह भुतहे कुएँ पर स्नान कर सारे बच्चे प्रार्थना के लिए एक बड़े सभागार में जमा हो जाते। छात्रावास के वार्डन जो बच्चे प्रार्थना में समय पर नहीं आ पाते उन पर बहुत झल्लाते थे। जो बच्चे उस समय सोये पाए जाते उन्हें उस दिन का भोजन नहीं दिया जाता था। इस बेहद परिचित प्रसंग को कवि कुछ इस प्रकार बयान करता है : 'नियम ऐसा था कि, जो प्रार्थना करते वे ही भोजन पाते; जो ऐसा नहीं करते, वे भूखे रहते। जो लड़के आराम से सुबह नींद फ़रमा रहे होते, उन्हें खाना नहीं मिलता, वे भोजन-कक्ष से धीरे-धीरे और मायूस होकर लौट जाते। कवि का मित्र गोविंद नींद और प्रार्थना के बीच हमेशा नींद को ही चुनता। प्रार्थना चूक जाने में वह गर्व करता और बड़े स्वाभिमान के साथ दोषियों में अपना नाम पुकारे जाने पर बाहर चला जाता। बिना भोजन के पता नहीं वह कैसे जीता था।' एक दिन कवि ने उसे पास के नलके से ढेर सारा पानी पीते देखा। कुछ दिनों बाद ही वह नहीं रहा। कवि फिर कहता है कि चूँकि प्रार्थना अनिवार्य थी, इसलिए मेरे मन में उसके प्रति विरक्ति-सी थी।

कुछ बहुत ही आत्मीय स्मृतियाँ छात्र जीवन में कन्नड़ साहित्य और उसके शिक्षकों से जुड़ी हैं। कवि के भीतर जिससे भी थोड़ा कुछ सीख पाया उसके प्रति श्रद्धा और स्नेह झलकता है। कवि का जीवन बहुत हद तक कन्नड़ भाषा और उसके साहित्य की गतिविधियों से जुड़ा रहा था। आधुनिक भारतीय भाषाएँ स्वयं अपने आप में, विशेष तौर पर जिस रूप में उनका औपनिवेशिक युग में भारी विस्तार हुआ छापेख़ाने और नये ज्ञान का माध्यम बनने के साथ, सिर्फ़ भाषा और साहित्य का संसार अपने में नहीं समेटे थीं। आधुनिक भारतीय जन की सबसे बड़ी पाठशाला ये भाषाएँ रही हैं। इनसे सिर्फ़ भाषा या ज्ञान के संस्कार नहीं बनते, बल्कि पूरी-की-पूरी अस्मिता का निर्माण होता रहा है। इसलिए भाषाओं में पगी आधुनिकता उदारवादी अंग्रेज़ी बुद्धिजीवियों के लिए एक पहेली बनी रहती है, आज भी। कवि की

आत्मकथा एक तरह से निदर्शन है, आधुनिक काल में भाषाओं की इस भूमिका का।

लेकिन एक पक्ष का ज़िक्र किये बग़ैर इस आत्मकथा की चर्चा अधूरी रहेगी, वह है इसका बिल्कुल अप्रत्याशित स्थलों में 'कॉमिक विज़न' या हास्य या सुखांत का पुट। कवि गहरी पीड़ा और दुख के प्रसंगों में भी उल्लास की रेखा खोज लेता है, जो किसी दार्शनिक जैसी तटस्थता के बग़ैर सम्भव नहीं। कवि परिस्थितियों में छिपी विडम्बना से बाहर निकल कर उनके भीतर छिपे विद्रूप और हास्य को नहीं भूलता। कथा तो वंचना की ही रहती है, लेकिन सिर्फ़ उसकी ही न रह कर एक बड़े सामाजिक तंत्र की भी होती है। इसी बोध से यह तटस्थता कवि ला पाता है। दूसरी तरफ़ करुणा का उद्रेक होता है, चाहे वह अभाव की टीस से हुआ हो या अपमान की चोट से। कवि एक ख़ास क़िस्म के हास्य या उसके भीतर गहरे छिपे मानवीय सौंदर्य के सहारे कथ्य की नाटकीयता को हावी नहीं होने देता।

और, यही वे दिन हैं जब कवि के जीवन में आम्बेडकर के बारे में जानने और फिर बोलने की शुरुआत होती है। यह अपने ढंग की शिक्षा थी, जिसमें एक दलित छात्र न कि अपने आदर्श बल्कि एक जीवन-दर्शन और वैचारिक मार्ग की खोज शुरू करता है। आज जबकि आम्बेडकर पिछले एक दशक में राजनीति के मैदान से हमारी कक्षाओं और विश्वविद्यालयों के सभागारों और सेमिनार कक्षों में एक अनिवार्य उपस्थिति बन चुके हैं, कवि के आम्बेडकर से जुड़े संस्मरण उसकी भूमिका की याद दिलाते हैं। वे बताते हैं कि आम्बेडकर पर दिये गये अपने भाषणों से उन्हें अहसास हुआ कि उनके जीवन के कई प्रसंग मिथकों की तरह थे। हम पाठक के तौर पर जान पाते हैं कि कवि जिन्हें मिथक कह रहा है वे अभाव पर विजय के प्रसंग हैं। लेकिन आम्बेडकर का जीवन, जैसा कि कवि आगे उनके पुस्तकों के संग्रह के ज़िक्र से बताता है, विद्वत्ता की साधना का भी था। कवि के लिए बचपन से ही इन भाषणों की यात्रा में ठीक-ठाक कपड़ों का अभाव आड़े नहीं आता था, जब तक कि कोई दोस्त उधार देने के लिए तैयार हो। युवावस्था और छात्र जीवन के दिन कविता की खोज के भी थे, जिसमें कि ज़्यादातर कविता उग्र क्रोध और रोष तथा बुद्धिवाद था 'रैशनलिज़म' की पक्षधरता में लिखी गयी थी।

आत्मकथा के दूसरे खण्ड में हम में कवि के व्यापक सामाजिक तंत्र, जिसमें साहित्य, शिक्षा, और राजनीति शामिल हैं, से जुड़ने और बदलने के संकल्प से परिचित होते हैं। यहाँ बचपन या युवावस्था के मार्मिक चित्र कम हैं, शहर के तलघर से निकल कर अपनी जगह बना पाने की कथा ज़्यादा। कवि धीरे-धीरे कन्नड़ के लेखक के रूप में अपनी जगह बनाने लगा था और साथ ही वह कन्नड़ भाषा और साहित्य का शोधकर्त्ता और अध्यापक भी बन रहा था। लेकिन कवि हमें याद दिलाता है कि इन दिनों में भी यह अनुभव बना रहता था कि उसके माता-पिता मज़दूर थे, और यह उसे झूठे गर्व से हमेशा बचा लेता था। लेकिन जो इस देश के वंचित है, उनके बचपन के जीवन का सच बहुत आसानी से नहीं बदलता। कवि एक जगह सड़कों पर नींद खोजते लोगों का यह चित्र खींचता है—'मैं गर्मियों में गली में सोता था। घर के बाहर सोने के अनुभव के बारे में बहुत कुछ कहा जा सकता है, गलियों में, खेतों में, और छतों पर। हम गर्मी से अपनी जान बचा लेते हैं। हमें कितना सुख मिलता है जब बयार हमारी देहों को सहलाती है। हम पूर्णिमा की रातों में चाँदनी में नहा रहे होते हैं। हम खुशी से चाँदनी की किरणों के जाल में अपनों को उलझा पाते हैं। हम आकाश की तरफ़ देखते हैं, सितारों को निहारते हैं, और उन्हें पहचानने की कोशिश करते हैं। हम चाँद की तरफ़ हृदय तृप्त होने तक देखते हैं। अपने गाँव में, बचपन में, मैं अपनी झोपड़ी के अंदर सोता था। आजी मुझे चाँद पर के खरगोश की कथा सुनाती। वह हर तारे के बारे में कुछ-न-कुछ अवश्य जानती। उसके पास आकाश के क़िस्सों का ख़ज़ाना था। जो लोग तारों से खचित आकाश के नीचे सोते हैं, उनकी कल्पना में पंख उग आते हैं। वे चंद्रमा के क़रीबी हो जाते हैं। जब मैं सड़कों पर सोया करता था तो इस बात का आनंद लिया करता था। जब लोगों का एक सागर सड़कों पर सोता है, तो सुरक्षा की कोई चिंता नहीं

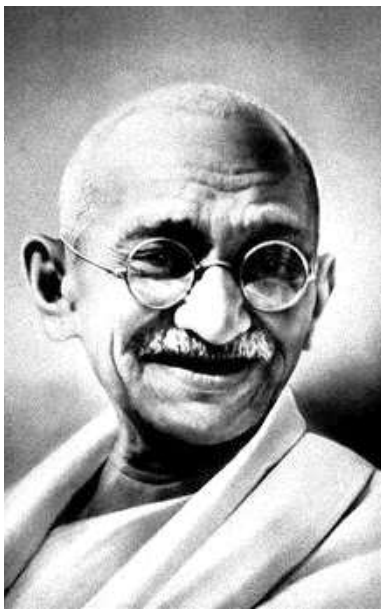

लोहिया और आम्बेडकर की कन्नड़ परम्परा में गाँधी की गहरी छाया है, भले ही हम उनकी बात कम करें। गाँधी अपने कर्म और प्रयोगों के इर्द-गिर्द वैचारिक गुत्थियाँ या बहसें खड़ी कर देते थे। आपको नहीं लगता कि आम्बेडकर का पूरा चिंतन जैसे गाँधी से लम्बी बहस है। इस ओर लोगों का ध्यान इधर गया भी है। मैंने कहा कि लेकिन गाँधी मुझे थोड़ी मुश्किल चीज़ लगते हैं। मुश्किल इसलिए क्योंकि उन गुत्थियों के बीच एक तारतम्य दिखता है।

होती। जब सुबह पौ फटने को होती है, तो हमें थोड़ी ठण्डक महसूस होती है। कुछ अंदर चले जाते हैं, और सोते रहते हैं। मुझे ठिठुरन जगा देती, फिर भी मैं गली में ही सोया रहता। किसे पता यह मेरे आलस्य के कारण था, या आसमान के प्रति मेरे प्यार के कारण।'

धीरे-धीरे इस आत्मकथा को पढ़ते हुए मैंने पाया कि जैसे इसके पैराग्राफ़ या पन्ने अपने आप में एक पूरी इकाई हैं। हम चाहें तो कई हिस्सों को किसी लघु-कथा या गद्य-कविता की तरह पढ़ सकते हैं। कई घटनाएँ स्टिल-लाइफ़ पेंटिंग की तरह हैं, या किसी स्टिल-फ़िल्म की तरह। संस्कृत के आचार्य जिस स्वभावोक्ति अलंकार की चर्चा करते हैं, वह 'नैचुरल' या 'ऑब्जेक्टिव' दृष्टिकोण नहीं है, वरन सूक्ष्म अर्थ का प्रकाशन है। बयान की सादगी सपाटबयानी नहीं होती, न ही किसी घटना की सीधी-सादी छवि सपाट छवि होती है। चित्रकला के बारे में कुछ लोग ऐसा मानते हैं की वह भाषा से कमतर है, क्योंकि भाषा सहज ही विश्लेषण भी करती जाती है। लेकिन कुछ यह भी मानते हैं कि चित्र का देखना भाषा के बग़ैर सम्भव नहीं। जैसे कि नीला रंग नीला शब्द के बिना सम्भव नहीं।

कवि जिस भाषा में, जिसमें बेहद बेचैन करने वाले दारुण और कारुणिक प्रसंग हैं, अपने अनुभवों के चित्र उभारता है, उनके बीच वह सायास विश्लेषण का अंश नहीं डालता। भाषा यहाँ सिर्फ़ रंगों और रेखाओं-सा काम करती है। ऐसी आत्मकथा से हमें खीज हो सकती है कि कहीं यह सचमुच एक दलित आत्मकथा है भी या नहीं। लेकिन कवि की तरफ़ से देखें तो यह ठीक ही है, क्योंकि उसके तईं यह आत्मकथा सिर्फ़ मनुष्य की व्यापक कथा ही नहीं है, बल्कि समस्त दृश्य-अदृश्य चराचर जगत की कथा है। यह कथा किसी एक के अनुभव से उपज कर उस व्यक्ति या समाज से ही नहीं बँधी रहती, जैसे एक बार भाषा में ढल कर हमारे अनुभव सिर्फ़ हमारे नहीं रह जाते, साथ ही वह जो हम देखते हैं उससे जुड़ भी जाते हैं।

मैं सोचता हूँ कि वह क्या चीज़ है जो आधुनिक दलित-लेखन और विशेषत: उसकी आत्मकथा की परम्परा को सारी आख्यान-परम्परा से अलग ठहराती है! दुख और दरिद्रता के चित्र पुराने साहित्य में भी कम नहीं मिलते, लेकिन वे हमेशा आत्मानुभव के इर्द-गिर्द रचे गये आख्यान नहीं होते, यद्यपि आत्म और जगत की तीव्र प्रतीति उनमें होती है। क्या आत्मा की ऐसी वेधक कथा आधुनिक चेतना की उपज है? जिस तरह आधुनिकता की शुरुआत के साथ पश्चिम में उपन्यास का जन्म हुआ था, क्या वैसे ही औपनिवेशिक समाजों में उसके हाशिये के लोगों के बीच आत्मकथा का होना है? हालाँकि महाकाव्यों में, चाहे ग्रीक हों या हमारे अपने *महाभारत* या *रामायण,* या आगे के युग के लोक-महाकाव्य— आत्म की पीड़ा, विकलता और

गवेषणा को हमेशा किसी बड़ी नियति और दैवी या ब्रह्माण्डीय तंत्र का हिस्सा बना दिया जाता है। आधुनिकता के सिद्धांतकार उसे क्षणिक या 'इफ़िमरल' इकाइयों में बाँट कर उसे बीते समय से सीधे टूटने के एहसास से उपजा बताते हैं। क्या हमारी आधुनिकता पर भी ये सूत्र चस्पाँ किये जा सकते हैं? मैं सोचता हूँ मित्र और कवि से पूछूँगा! पश्चिम की आधुनिकता ने मनुष्य की भीतर फैली कई स्तरों और गहराइयों की खोज करने की कोशिश की है। उसके ढेरों सिद्धांत और शोध हैं। लेकिन जब अल्जीरियाई विचारक फ्रांज़ फ़ैनो उसे आधुनिक मनोविश्लेषण के सिद्धांतों के आलोक में वंचितों के अनुभवों के सामने ला खड़ा करते हैं, तब सिर्फ़ मनुष्य के आत्म के गह्वर में छिपे रहस्य ही नहीं खुलते, बल्कि समाज, संस्कृति और सभ्यता की प्रक्रियाएँ भी पुनर्विचार की माँग करती हैं। मैं तुरंत मित्र के प्रश्न का अनुमान लगा लेता हूँ। वह कहता कि शायद इसलिए हमारे यहाँ फ़ैनो नहीं आम्बेडकर हुए जो समाज-विज्ञान और दर्शन के विद्यार्थी थे। जैसे उन्होंने सारी दृष्टि वहीं से पाई थी। मैं सोचने लगा कि यह कैसा संयोग है कि आम्बेडकर आगे चलकर बुद्ध के जीवन और दर्शन की ओर खिंचते चले गये, जहाँ आत्म का नकार था और करुणा और नये संघ या समाज के निर्माण का संकल्प। मित्र ज़रूर हँस कर कहता, 'यस, रिमेम्बर यू वर टॉकिंग ऑफ़ द फ़ोल्ड। फ़ोल्ड, इज़ंट इट अ प्रोफ़ाउंड वर्ड!' मैं उसका आशय समझने की कोशिश करता और मौन रहता।

मैं सोचने लगा कि कवि से पूछा जाता तो वे कहते कि ढेर सारा मध्यकालीन साहित्य भी तो अत्यंत गहरी काव्यात्मक वेदना में लिपटा पड़ा है। उनकी तीव्रता जैसे आधुनिक आत्मकथाओं का मार्ग बनाती है। फिर भी मनुष्य के आत्म की कथा बिल्कुल नयी चीज़ है। मध्यकालीन काव्य की आत्मा की विकट पीड़ा के बरअक्स समकालीन दलित कथा आत्म की खोज और उससे मुठभेड़ दोनों है। लेकिन इन सब से ज़्यादा, जो बात कवि की कथा याद दिलाती है, वह यह कि आत्म की इयत्ता नित बनती बिगड़ती रहती है, उसका एक लम्बा इतिहास होता है। फिर भी अगर मनुष्य का कोई साझा आत्म है तो यह उसकी सबसे तीव्र अनुभूति का दस्तावेज़ है। वंचना के बरअक्स रचा जाता आत्म, अभाव के बावजूद लेकिन रिक्तता नहीं जहाँ। कवि की आत्मकथा में इसके संकेत हमें कई जगह मिलते हैं। वे दलित आत्मकथा को सिर्फ़ दलित कथा नहीं, बल्कि मनुष्य की कथा में बदल देते हैं।

मैंने सोचा कि कवि और मित्र के सामने अपनी आख़िरी गुत्थी रखूँगा और पूछूँगा कि क्या आत्मकथा, ख़ास तौर पर वंचना की ऐसी कथा के सामने हमें नैतिकता या चरित्र के प्रश्न नहीं खड़े करने चाहिए, या सारा-का-सारा आधुनिक नैतिक-दर्शन, जिसे हम 'मॉरल फ़िलॉसफ़ी' या 'एथिक्स' कहते हैं, वह जीवन की ऐसी स्थितियों के सामने किसी काम का साबित नहीं होता। मैं मित्र से पूछता कि ऋजुता, भाषा की हो या चरित्र की, कहाँ से शुरू होती है? क्या दोनों एक ही हैं? शब्द से चरित्र तक या चरित्र से शब्द तक, पथ कौन सा है? ग्रीक विचारक जिसे 'एस्केसिस' कहते हैं, और नैतिक-दर्शन के कुछ आधुनिक विचारक जीने की कला या उससे जुड़े प्रश्नों की प्राचीन ग्रीक परम्परा को फिर से समझने की बात करते हैं। चरित्र का प्रश्न जैसे जीने के प्रश्न से जुड़ा होता है। जीवन को किसी प्रत्यय में बदलना मुश्किल है। वह एक प्रक्रिया है, प्रवाह है, मानवीय स्थिति है। नैतिकता तो जैसे मानदण्डों की होती है। क्या सचमुच दलित आत्मकथा कई रूपों में मनुष्य और चरित्र की बनी बनाई व्याख्या पर पुनर्विचार के लिए बाध्य करती है हमें? मित्र का सोचता चेहरा और उसके लम्बे डग याद आते हैं। कवि के सुलझे हुए वाक्य और छिपी हुई करुणा और मित्रता याद आती है। 'आत्मकथ्य की ऋजुता', मैं यह मन ही मन दुहराता हूँ।

******

पूर्व-पक्ष के सीमांत

धर्म के ध्वंस से मेरा क्या तात्पर्य है यह कुछ लोग नहीं समझ सकते; कुछ
लोग इस विचार से भड़क सकते हैं और कुछ को यह क्रांतिकारी लग
सकता है। इसलिए मैं अपना पक्ष स्पष्ट कर रहा हूँ। मैं नहीं जानता कि आप सिद्धांतों
और नियमों में भेद करते हैं या नहीं। लेकिन मैं करता हूँ। मैं सिर्फ़ भेद
ही नहीं करता बल्कि यह भी कहता हूँ कि यह भेद वास्तविक और महत्त्वपूर्ण है।
नियम व्यावहारिक होते हैं; वे विधियों या आदेशों के माध्यम से आदतन
हमारे क्रिया-कलापों को करने के तरीक़े होते हैं। जबकि सिद्धांत बौद्धिक होते हैं; वे
चीज़ों को परखने के उपयोगी पद्धति या क़ायदे होते हैं। नियम किसी कर्त्ता
को कर्म का कौन सा मार्ग अपनाया जाए, इसकी ओर निर्देश करते हैं। सिद्धांत
कर्म का कोई विशिष्ट मार्ग नहीं बताते। नियम, भोजन बनाने के क़ायदों
की तरह, सिर्फ़ यह बताते हैं कि क्या करें और कैसे करें। सिद्धांत, जैसे कि न्याय का,
मुख्य बातें बतलाते हैं, जिसके अनुसार कोई अपनी इच्छाओं और
प्रयोजनों के अभिप्राय पर विचार करता है। और उसे इस सोच के लिए प्रेरित करता है
कि किन महत्त्वपूर्ण बातों का उसे ध्यान रखना चाहिए। नियमों और सिद्धांतों
के बीच का यह अंतर उनके लक्ष्य के अनुसरण में किये गये कार्यों
में उसके गुणों और तत्त्वों में अंतर दर्शाते हैं।

—बी.आर.आम्बेडकर (2002), *एनिहाइलेशन ऑफ़ क़ास्ट,* सं. वैलेरियन रोड्रिग्ज़,
'दि इसेंशियल राइटिंग्ज़ ऑफ़ बी.आर. आम्बेडकर', ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस,
नयी दिल्ली : 298

सिर्फ़ बाह्य जाति, वर्ग, या श्रेणी ही नहीं, बल्कि उन्हें बाँधने वाले संबंध का भी,
समाज से उद्‌भव होता है। क्योंकि मानवीय समूह एक दूसरे में मिले रहते हैं—
उपकुल कुल में, कुल उससे बड़े भाग में, और वह भाग
क़बीले या जनजाति में— जैसे कि चीज़ों का समूह एक दूसरे में विन्यस्त रहता है। ...
और इस प्रकार यदि समस्त चीज़ों को किसी एक तंत्र के रूप में देखा जाए,
तो यह इस कारण है कि स्वयं समाज इस रूप में देखा जाता
है। वह एक पूर्ण या समग्र इकाई है ,बल्कि वह एक विशिष्ट और पूर्ण इकाई है,
जिससे हर चीज़ जुड़ी है। इस प्रकार तार्किक अनुक्रम सामाजिक अनुक्रम
का ही एक रूप है, और ज्ञान की ऐक्यता कुछ और नहीं बल्कि समष्टि
की ऐक्यता है, जिसका कि पूरे ब्रह्मांड में विस्तार है।

—एमील दुर्खाइम एवं मार्सल मॉस (1969), *प्रिमिटिव क्लासिफ़िकेशन,*
फ्रेंच से अनुवाद : रॉडनी नीधम, कोहेन ऐंड वेस्ट, लंदन : 83

कवि के घर से बाहर आ कर हमें लगा कि इस गहरी रात की नीम रोशनी में जैसे कोई उजाला फूट रहा था। मुझे बार-बार मुक्तिबोध का एक शब्द याद आता रहा, तंबई। और यह रात थी कि जैसे किसी तंबई उजाले में लिपटी। तंबई, यानी तपा हुआ रंग। गाढ़ा, धात्विक, छूने से जैसे कोई टंकार-सी निकल पड़ेगी। मैं सोचता रहा कि कहीं कवि तो दरवाज़े पर आकर फिर से नहीं खड़े हो गये। हमारी बातचीत के अधूरे रह जाने की क़सक हम सबके भीतर थी। जो कविता अनुभवों के गहरे तल

में पिसती है, वह सिर्फ़ आत्मकथा हो सकती है। किसी बनाव शृंगार की ज़रूरत नहीं, अभ्यास और प्रतिभा से परे, केवल आत्मा की पुकार, जिसकी खोज मनुष्य करता रहा है। आत्म की गहराई ऐसी कि जितनी विकल उसकी खोज, वैसा ही उसका आकार। अतलांत, निस्सीम, अछोर। और यह सब मनुष्य के ही भीतर।

पिछली शाम मैंने मित्र से उसके घर की छत पर पूछा था, उस अँधेरे के बारे में जो कई बार घरों, गलियों और सड़कों से छनती रोशनी से बिंधता, लेकिन उसके बावजूद हमें दिख जाता है। वह वैसा घुप्प नहीं होता, जैसा कि हम दोनों ने बचपन में अपने गाँव और छोटे क़स्बों में देखे था, जो शहर से छुट्टियों में जाने पर अक्सर हमें गहरे भय और रोमांच से घेर लेता था। उसने कहा, 'डोंट यू थिंक दैट वॉट वी सी एज़ डार्कनेस टूडे इज़ मोर ऑफ़ एन एडल्ट्स व्यू, दैट इज़ हाऊ वी सी इट।' हमारी बातचीत में अँधेरा अब धीरे-धीरे एक रूपक में बदल चुका था। मैंने पूछा कि क्या हम अँधेरे को चित्रित कर सकते हैं, क्या अँधेरा भाषा की पकड़ में आ सकता है, क्या सचमुच अँधेरा अभाव है या एक स्थिति, अन्य स्थितियों की तरह, या सत्ता किसी अन्य सत्ता की तरह। कुछ भारतीय दर्शनों में अभाव एक पदार्थ है। वह भी सत्ता है, अभाव-सत्ता। और अँधेरा, उसकी गहरी काव्यात्मक और दार्शनिक व्याख्याएँ हैं।

उस रात हमारी बातचीत का एक अन्य सिरा आम्बेडकर से जुड़ा था। जिनका ज़िक्र आते ही कवि उनके बारे में और उनके जीवन से जुड़े घटनाक्रम की विस्तार से चर्चा करते। आम्बेडकर के महाड़ आंदोलन पर बात आ टिकी। उस आंदोलन के ब्योरे वे इस तरह बताते रहे जो कि मेरे भीतर के इतिहासकार के लिए प्रसन्नता की चीज़ होती। लेकिन सिर्फ़ ब्योरे नहीं, उनकी आम्बेडकर और दलित आंदोलन के प्रति एक दृष्टि भी झलकती थी। जहाँ एक ओर आम्बेडकर उनके लिए एक महत्त्वपूर्ण विचारक और राजनीतिक कार्यकर्त्ता थे, वहीं दूसरी ओर उनकी विशिष्टता व्यापक सामाजिक संदर्भ से हर बार जोड़ कर वह बताते। कवि दलित लेखकों और विचारकों में उन विरले लोगों में से हैं जो उसे उस व्यापक भारतीय समाज की प्रक्रियाओं से जोड़ कर देखते हैं। मैंने उनसे कहा कि वह हर छोटी चीज़ जो समाज में घटित होती है, ज़रूरी नहीं कि वह दृश्य बदलती जान पड़े, लेकिन उसे समझने के लिए कहीं घटनाओं का जाना-अनजाना जाल ज़रूरी होता है। आधुनिक इतिहास-लेखन में तो कुछ सबसे अच्छे काम इस दृष्टि से ही हुए हैं।

हम उस रात उनके घर से जब विदा होने लगे तो उनके आतिथ्य और संवाद की सहजता से मन भर आया था। उन्होंने अपनी आत्मकथा की अंग्रेज़ी में अनूदित प्रति पर मेरा नाम लिखा भेंट करते हुए। किसी से लम्बे संवाद के बाद अपने हाथों में उसकी आत्मकथा का होना, इस अनुभव को मैं आज तक नाम नहीं दे पाया। आख़िर किसी जीवन की कथा भी सौंपी जा सकती है! मैं और मित्र घर के बाहर कुछ देर तक खड़े रहे। आधी रात में हमारे शहर थोड़े अपरिचित लेकिन बहुत आत्मीय लगते हैं। उसने आकाश की तरफ़ इशारा किया, 'लुक एट द मून।' बारिश के बाद सब कुछ शुभ्र था। लगता है सिर्फ़ यहाँ शोर नहीं, रोशनी और अँधेरे का इंद्रजाल पसरा है। उस रात हम देर तक भटकते रहे, शहर जबकि आधी नींद में रहा होगा। इमारतों, सड़कों, पेड़ों की आगोश में फिसलता शहर और रात का आकाश जिसमें चाँद बादलों के बीच तैरता जान पड़ता, और कहीं दूर आकाश-गंगाओं से सफ़ेद आलोक धरती पर टपक रहा हो जैसे। मित्र कहता, 'इज़ंट आल दिस मिस्टीरियस!'

हम कविता, रोशनी और अँधेरे की बात करते रहे। हम अपने महानगरों में दिन से ज़्यादा रातों में सँभल कर चलना सीख जाते हैं, सड़कों और फुटपाथों पर एक दुनिया आ बसती है। यह प्रहर शहर के वंचितों का होता है, उनके अधिकार से कुछ ज़्यादा, जो रोशनी होते ही काम पर चले जाएँगे। मित्र ने अगली सुबह मुझे विदा करते हुए कहा, 'अब भी सोचना बचा रहेगा, कौन सी चीज़ ज़्यादा अँधेरी है, कविता या विचार या जीवन।' मैंने वादा किया कि सोचूँगा आकाश में बहुत ऊपर जा कर।

मेरी खिड़की के बाहर आकाश इतना एकसार नीला कि जैसे कोई ठोस दीवार फैली हो, अंतहीन। और बीच में धूप का रंग इतना चटकीला, अचानक धरती की कहीं कोई झलक, फिर हरा, भूरा, मटियाला रंग पसरा हुआ चारों तरफ़। मैंने अपने सामने कवि की आत्मकथा खोल ली। ऊपर छपा है 'अ वर्ड विद यू वर्ल्ड' अर्थात् 'दुनिया, मैं तुमसे कुछ कहना चाहता हूँ।' मैंने मित्र से पूछा था कन्नड़ शीर्षक *ओरु केरी* का अर्थ। उसने बहुत सूक्ष्मता से बताया था किस अर्थ में कवि ने इसका प्रयोग अपने शीर्षक के रूप में किया है। ओरु, जहाँ किसी गाँव की उच्च और ग़ैर-दलित जातियाँ रहती हैं, और केरी, जहाँ उसकी सीमा से बाहर दलितों का बसेरा होता है। मैं जो समझ पाया उसका आशय यह था कि कवि ने अपनी आत्मकथा में बाहर और भीतर का द्वंद्व दिखाया है। आत्मकथा पढ़ते हुए यह रूपक और समझ में आता है, जिसमें बाहर और भीतर, स्वीकार और बहिष्कार, का द्वंद्व कई रूपों में चलता रहता है। साथ ही वह जो केंद्र है, भीतर है, गर्भ-गृह है, उसके भीतर भी एक बाहर बसता है, जैसे कि जो बाहर है, मानो उसके भीतर भी कोई केंद्र है। लेकिन यह कोई समाहार नहीं, इस द्वंद्व का, बल्कि इस ओर इशारा है, कि नये की कल्पना दोनों के भीतर से शुरू होनी चाहिए।

हमारी बातचीत में बाहर और भीतर की रंगत जताने वाले कई शब्द आये— रात, अँधेरा, जल, आकाश, छाया, ग्रामीण-जीवन, प्रकृति, दासता, कथा, काव्य, इतिहास, पुराण, और विचार। लेकिन दुख और अंधकार हमारी परम्परा में उतने ही सुनाई देते हैं, जितना कि उल्लास और आलोक के इर्द-गिर्द के शब्द। और यह सिर्फ़ कविता में ही नहीं दर्शन और विचार में भी झलकता है। मित्र आकाश देख कर कहता कि जैसे बारिश के बाद यह नीला दर्पण हो गया हो। पेड़ों की शाखें उसके इस शहरी घर की छत की कुटिया के किनारे ऐसे घिरी लगतीं जैसी हम अपनी गाँव के पुराने घर में बैठे हों, रात की बारिश के बाद पानी और मिट्टी की दीवारों की गंध और नमी हमारे आस-पास है। शहर के घर की छत का यह हिस्सा उसने किसी पर्णशाला की तरह बना रखा है। उसने बताया कि उसकी लकड़ियाँ सचमुच किसी पुराने घर या मंदिर की रही होंगी, जो बाढ़ में बह आयी थीं। भीतर अपने म्यूज़िक सिस्टम पर उसने कोई लम्बा आलाप लगा रखा था, जो टूटती बारिश के बीच उभर आता था। अंदर कमरे की दीवार पर एक बड़ा पर्दा चमकता था, जिस पर फ़िल्में देखी जा सकती थीं। मैंने उससे पूछा क्या तुम गाँव में बड़े हुए। उसने ना में सिर हिलाया और कहा कि लेकिन गाँव की छाया शहर के हमारे जीवन में हमेशा बनी रही। हम उसे आज भी हर रूप में खोजते रहते हैं। उसने कहा वह अक्सर गाँवों की तरफ़ निकल जाता है, उसने गाँवों के शहर होने की कथा का ही अध्ययन किया है, समाज-विज्ञान की शब्दावली में हम जिसे विकास की कथा कहते हैं। वह कहता कि शोध करने का पेशा, या तस्वीरें खींचने, और फ़िल्में बनाने का शौक़, यह सब अपने संसार को एक क्षण के लिए बाँध कर रखना ही तो है। मैंने कहा कि ये काम बुनकर या कारीगर होने, या खेत गोड़ने या फ़सल तैयार करने से कितने अलग हैं, तुम ने कभी सोचा है। उसने जोड़ा या फिर कविता करना या विचार गढ़ना। मैंने उसकी ओर देख कर दुहराया, क्या तुमने अपनी क्रियाओं पर ध्यान दिया, जैसे कि 'करना' या 'गढ़ना'!

मैं मित्र से कहता कि भाषा और साहित्य या समाज-विज्ञान जैसे बौद्धिक कर्म के भीतर जिस समाज की चर्चा चलती रहती है, उसकी प्रामाणिकता को ले कर हम किस तरह आश्वस्त रहते हैं। फिर भी बचपन में रटे निबंध के तर्ज़ पर हममें से कुछ ऐसा क्यों मानते हैं कि साहित्य सचमुच समाज का दर्पण है और कुछ समाज-विज्ञान की सत्यता को लेकर सवाल उठाते हैं, और चूँकि वह पश्चिमी ज्ञान की उपज है इसलिए उसे एक सिरे से झूठा और आयातित बतलाते हैं। मित्र ने कहा कि क्या ये दोनों ही तर्क भाषा के खूँटे से बँधे नहीं लगते और बहस क्या अंततः विचार की जगह भाषा की प्रामाणिकता से नहीं जुड़ जाती। उसने आगे बेहद गम्भीर प्रश्न मेरे सामने रख दिया और कहा कि मुझे तो लगता है कि औपनिवेशिक प्रभुत्व में रहे समाजों में विचार नहीं भाषा ही सबसे बड़ा मोर्चा होता है सांस्कृतिक और बौद्धिक उद्वेलन और परिवर्तन का। औपनिवेशिक समाजों में भाषा का प्रश्न सिर्फ़

उसके शब्द और वाक्य-विन्यास या रूप और शैली के नहीं होते। मैंने उससे कहा कि मुझे इटली के विचारक अंतोनियो ग्राम्शी की बात बहुत जँचती है कि सांस्कृतिक प्रक्रियाएँ सबसे पहले किसी न किसी रूप में भाषा के संसार में घटित होती हैं। उसे इस बात का भान था कि मैं भाषा चिंतन की भारतीय परम्परा का ज़िक्र पिछले कुछ सालों में करता रहा हूँ। उसने पूछा कि क्या ऐसी बातों के संकेत इस परम्परा में हैं। उसने अंग्रेज़ी दार्शनिक जे.एल. ऑस्टिन के 'स्पीच-ऐक्ट' सिद्धांत के पिछली लगभग आधी सदी के समाज-विज्ञान और मानविकी के विकास और सैद्धांतिक चिंतन में प्रभाव का ज़िक्र किया। बीसवीं सदी के मध्य में भाषा और कर्म के जुड़ाव से समाज और संस्कृति चिंतन में एक बड़ा मोड़ आया था। मैंने इसमें जोड़ा कि यदि हम भाषा को बीच में रखें और एक तरफ़ कर्म और दूसरी तरफ़ जगत को रखें तो जो त्रिकोण बनता है, वह हमारे लिए महत्त्वपूर्ण है। उसने फिर कहा कि कवि क्या हमसे तुरत नहीं पूछ बैठते कि फिर कल्पना और विचार को इसमें हम कहाँ बिठाएँगे!

औपनिवेशिक समाजों में तो एक बड़ा प्रश्न विचार और भाषा के संबंध और प्रामाणिकता को ही लेकर उठ खड़ा होता है। लेकिन यह सोचना तो सही है कि हर साहित्य या कोई भी कला-रूप विचार भी रचता है। मैंने कहा लेकिन प्रामाणिकता की बात थोड़ी टेढ़ी है। भाषा 'ऑर्गेनिक' हो कर ही विचार का वाहक बन सकती है क्या? यह प्रश्न विचार करने योग्य है। विचारक या विश्लेषक क्या सिर्फ़ अपने सिद्धांतों या प्रविधियों से ही बँधा होता है। सिद्धांत और अनुभव-लोक तक क्या सिर्फ़ भाषा के सहारे ही पहुँच सकता है। किसी अनुभव के बिल्कुल क़रीब होने के कारण ही क्या हम उसे बेहतर समझ पाते हैं। भाषा, विचार या सिद्धांत, और जीवन तथा अनुभव के रिश्तों को समझना शायद इतना सरल नहीं। समाज-विज्ञान की बिल्कुल अभी की पश्चिमी सैद्धांतिकी में, जिसकी आहटें हमारे यहाँ भी सुनाई देती हैं, प्रकृति और संस्कृति के द्वंद्व पर पुनर्विचार, भौतिक संस्कृति की अहमियत के साथ-साथ जीवन (लाइफ़) और एक तरह से जैव-सिद्धांतों की भाषा का असर सुनाई देता है। द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद ऐसी भाषा विचार के क्षेत्र में निषिद्ध-सी हो गयी थी, जबकि संरचना और सामाजिक प्रक्रियाओं पर ज़ोर था, और बाद में जिससे भाषा और साहित्यशास्त्र के कुछ सिद्धांत आ जुड़े। आज विश्वग्राम की अवधारणा सामान्य सोच का हिस्सा बन चुकी है, लेकिन हम यह भूल जाते हैं कि यह एक बड़ी वैश्विक आर्थिक प्रक्रिया का नाम है, जिसके परिणाम अब हम सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में बहुत स्पष्ट रूप में देख रहे हैं।

मित्र फिर पूछ बैठा कि कहीं 'इरैशनलिज़म' की बात अनुभव को ही नये ढंग से रखने की बात तो नहीं है। आख़िरकार मध्यकालीन कवि यही तो करते हैं। मैंने जोड़ा, 'लेकिन उनके लिए काव्य और कला की दुनिया ज्ञान से अलग नहीं।' मुझे तो बार-बार लगता है जैसे कला और तत्त्व-चिंतन को अलग करना मुश्किल है, कम-से-कम आधुनिकता से पहले के संसार में। मैंने कवि से पूछा था कि क्या अनुभव और विचार का यह द्वंद्व बहुत हल्का है, या सचमुच ही मायने रखता है? आप एक लेखक के रूप में क्या सोचते हैं? मैंने फिर कहा कि क्यों अनुभव का जो लोक साहित्य और कला में हमें दिखता है, वह ज़्यादा झकझोरता है? और क्या वंचितों का लेखन और उनकी कला ज़्यादा चित्रमय है? यह सच है कि भाषा अपने बखान की सीमाओं पर खड़ी रहती है? मित्र ने हमेशा की तरह बातचीत को थोड़ा और गहरा कर दिया था, 'बट इज़ंट दैट सो विद थॉट ऐंड आइडियाज़ टू!'

वह अंतिम प्रश्न था जो मित्र ने मुझसे पूछा था। लम्बे सोच के बाद उसने कहा, 'हमारे-तुम्हारे जैसे लोग आख़िरकार किस ज़मीन पर खड़े हैं? क्या यह कहना सही है कि समाज-विज्ञान या मानविकी की सोच जो हमारे यहाँ चलती है, वह उपनिवेशवाद का अंतिम द्वीप है? हमारे बीच क्यों खड़ा है यह कवि?' पहली बार साहस जुटा कर मैंने इस प्रश्न का उत्तर दिया, 'शिल्पन, कवन, कल्पना, वी मेक थिंग्स, वी मेक द वर्ल्ड, वी ट्राइ टू अंडरस्टैंड व्हाट इज़ गिवेन टू अस इन द मेकिंग, दोज़ हू हैव मेड इट बिफ़ोर अस।' मैं देर तक सोचता रहा। क्या मुझे कहना चाहिए, संकल्प, चेष्टा,

'मुझे ऐसा लगता है कि ज्यों-ज्यों हमारे देशवासियों में आत्मचेतना का संचार होता जाएगा, त्यों-त्यों हिंदू समाज की भीतरी समस्याएँ उग्र रूप धारण करती जाएँगी। राजनीतिक बंधनों के दूर होते ही हमारी मानसिक या आध्यात्मिक गुलामी का बंधन और भी कठोर प्रतीत होगा। दो सौ वर्षों की राजनीतिक गुलामी को तोड़ने में हमें जितना प्रयास करना पड़ा है, उससे कहीं अधिक प्रयास करना पड़ेगा इस सहस्राधिक वर्षों की सामाजिक और आध्यात्मिक गुलामी की ज़ंजीरों को तोड़ने में।'

भावना, कृत। मित्र ने याद दिलाई मुझे उन पंक्तियों को दुहराने की जो *ईशोपनिषद्* में हैं। अँधेरे के बारे में और अंत का वह श्लोक जो है कर्म और स्मृति के बारे में। ये दो मार्ग हैं सृजन के, शिल्पन के— काव्य और चिंतन। संकल्प और स्मृति, ये इतने पुराने शब्द, क्या अब इन्हें ही हम राजनीति कहते हैं और इतिहास।

हमारी बातचीत बार-बार लौटती है, भाषा की सादगी और न्यूनता के विषय पर। मित्र ने पूछा कि राजनीति का मर्म अनुभव है या भाषा? हम कहाँ से शुरू करते हैं। कवि का स्वयं एक राजनीतिक जीवन रहा है। लोगों के बीच बोलने का। मैंने उनसे लेखक या विचारक और राजनीति के संबंधों की बात पूछी थी। उनकी बात बहुत समझने की थी। वे कहते, 'एक राजनीतिक के रूप में मैं सिर्फ़ एक वक्ता रहा हूँ। एक राजनीतिक वक्ता।' यह एक बहुत ही नयी बात थी, राजनीति और साहित्य के रिश्ते के बारे में एक नयी समझ। मैंने सोचा कि राजनीतिक की यह भूमिका तो हमारे समय में लुप्त सी हो गयी है। फिर पूछा कि तो क्या सचमुच आपका लोगों के बीच जाकर बोलना एक राजनीतिक कर्म है? वे थोड़ा सोच में पड़ गये। वे शायद अपना सीधा उत्तर राजनीति को नहीं बताना चाहते थे। उन्होंने कहा, 'मैं लेखक के रूप में बोलता हूँ, भले ही लेखकों के मंच से भी राजनीति की बात ही करूँ। कला और राजनीति का रिश्ता कितना गहरा और उलझा हुआ है।' बातचीत का यह सिरा मित्र नहीं भूला था। उसने फिर यह बात सामने रखी, 'क्या सचमुच तुम राजनीति से परहेज़ चाहते हो।' 'बिल्कुल नहीं', मैंने कहा। 'लेकिन सब कुछ राजनीति हो जाए, इससे ज़रूर डर होता है। जीवन के कितने पहलू हैं जिनकी हम बात नहीं करते— समाज, नैतिकता, धर्म, शिक्षा, कारोबार, मज़दूरी, सबके सब आधुनिक काल में अपने आप में बेहद जटिल व्यवस्थाएँ हैं। हालाँकि मैं जानता हूँ कि राजनीति सिर्फ़ एक व्यवस्था और सत्ता का तंत्र नहीं है। हमारे बीच, वह कितना बड़ा मुहावरा है हाशिये के लोगों के लिए।'

अंतिम बात जो हम तीनों के बीच हुई थी वह भाषा और अनुभव को लेकर थी। क्या सचमुच हमारे अनुभव हमारी भाषा रचते हैं, या भाषा ही अनुभव रचती है। दलित आत्मकथा में कौन सी चीज़ पहले आती है, भाषा या अनुभव! और फिर वह दार्शनिक बहस जो 'निर्विकल्प' के बारे में है, उसकी चर्चा मैंने की थी। अर्थात् वह स्थिति जो भाषा के ठीक पहले की होती है, वाक् के पहले, शब्दन के पहले की अवस्था, क्या उसे हम जानते ही नहीं? मित्र ने तुरत भाषा का सिरा पकड़ा, लेकिन फिर आश्चर्य में पड़ गया। कवि ने अनुभव की बात कही, लेकिन वे किसी भी अनुभव, चाहे वह व्यक्ति का हो या समूह का, को नितांत उसकी अपनी सीमाओं में ही बँधे रहने की बात से सहमत नहीं थे। एक रचनाकार के रूप में उन्हें एक व्यापक परम्परा की दरकार थी, भले ही वह अपने परिवेश से जुड़ी हो

या किसी नितांत अपरिचित समाज या समय से। रचना के लिए उस विस्तार की ज़रूरत होती है, ताकि हम अपने अनुभवों के बोध, उसकी निजता और प्रामाणिकता के बोझ से दब न जाएँ। वे अनुभव की निजता की बात से आधे मन से सहमत होकर भी, भाषा के साझे और सहकार चरित्र को भी उतना ही महत्त्व देना चाह रहे थे। मैंने उन्हें कुरेदते हुए कहा था, 'ऐसा इसलिए कि नीले रंग का ज्ञान और अनुभव हमें भले ही बेहद निजी स्तर पर होता हो, नीला शब्द तो हमारे बीच पैदा होता है, हम सबका है।'

मित्र निर्विकल्प की गुत्थी सुलझाने में लगा था, जो एक गूढ़ दार्शनिक बहस का विषय रहा है, समकालीन पश्चिमी दर्शन से लेकर भारतीय चिंतन तक में। उसने कहा कि ऐसे 'नेगेशन' के प्रत्ययों में गहरे प्रतिरोध की भावना भी छिपी रहती है, जैसे कि उत्तर भारत में निर्गुण काव्य। मनुष्य की गहरी आकांक्षा रही है कि वह चीज़ों को, भासमान जगत को, अपने अनुभवों को बिल्कुल बिना किसी विशेषता, अलंकरण या छाया या आवरण के जाने। यदि सारी परतें उतार दी जाएँ तो हमारे हाथ क्या बचता है, क्या ऐसा हम कर भी सकते हैं। मैंने कहा था कि मुझे तो यह एक युक्ति मात्र जान पड़ती है, ज्ञान की प्रकृति और प्रक्रिया को समझने की। अभाव को यदि हम स्वयं एक अवस्था मान लें, तब निर्विकल्प भी एक अवस्था हो सकती है। लेकिन जिस क्षण हम उसे जान लेते हैं और विचारों में संकीर्ण कर लेते हैं, वह अवस्था हमारे हाथ से छूट जाती है, और सबसे ज़रूरी बात तो मुझे यह लगती है कि भाषा स्वयं ही एक आवरण है इस प्रक्रिया में। मैंने यह भी कहा कि हम सब भाषा के चमत्कार में डूबते उतराते हैं, लेकिन हमेशा लगता है जैसे कुछ उससे परे है, भाषा मानो संकेत है, द्योतन है उसका जो सच है हमारी दृष्टि की सीमाओं से परे, और न ही हमारी सत्ता सिर्फ़ भाषा है। मनुष्य का लोप सम्भव नहीं, कोई चिह्न है, जो मनुष्यत्व का संकेत है, भाषा में।

मित्र की बहुत देर बाद ठहाके की हँसी सुनाई पड़ी थी। उसने कहा, 'बीवेयर, यू ह्यूमनिस्ट। मैं उसकी चुहल समझ गया,और उसका अभिनय भी। उसने कहा, 'डू यू रियली बिलीव इन द ह्यूमंस। सम इन आवर ट्राइब हैव डन विद दिस आइडिया।' मैंने कहा, 'नॉट विद द ह्यूमंस। लेकिन एक मनुष्य की या जीव की सत्ता है, और वह जिन चीज़ों से बना है, वह उससे शायद अलग है। उस सत्ता का भान हमें भाषा में होता है।' वह फिर मुस्कुराया, 'तब तो हार्ड मेटाफ़िज़िक्स है।' मित्र ने कहा कि तुम्हारे मित्र हँसेंगे और कहेंगे कि, 'यू हैव स्टिल गॉट सम ह्यूमनिस्ट रेम्नेंट्स।' मैंने कहा कि 'ह्यूमनिज़म' तो एक ख़ास क़िस्म का विचार है— मैंने तो उसकी बात की ही नहीं। और, फिर कहा कि कई बार ये जो शब्द हैं, अभाव के, निर्विकल्पता के, निर्गुण के, वे मुझे निहिलिस्ट नहीं लगते। मज़ेदार यह है कि ये शब्द सिर्फ़ दार्शनिकों की शब्दावली नहीं। सबसे ज़्यादा इन शब्दों का प्रयोग बच्चे करते हैं। आश्चर्य नहीं की निर्विकल्पता का उदाहरण बच्चों की भाषा ही है, भाषा के पहले के बोध की अवस्था उनमें जो होती है। स्वयं हमारी लोक-कविता इन शब्दों और भावों से भरी पड़ी है। कहीं ऐसा तो नहीं कि हम भाव और अभाव के द्वंद्व के बीच अपने को खड़ा पाते हैं। कवि ने कहा, 'यस, नाउ आइ अण्डरस्टैंड।'

मैंने कहा कि आम्बेडकर की पुस्तक *अनाइहिलेशन ऑफ़ क़ास्ट* अभाव को एक परिवर्तन की आवश्यक शर्त के रूप में दिखाती है। लेकिन स्वयं आम्बेडकर में यह अंत के लेखन में भाव तक लौटना है। शायद भावन बेहतर शब्द है। और, यह सब होता है नये लोक और समूह में। आम्बेडकर उसकी बात करते हैं। कवि को यह बात बहुत पसंद आयी। हर अभाव का बोध भाव की चेष्टा है। स्वयं आम्बेडकर की सोच और राजनीति इसका संकेत है।

क्या भाषा में सचमुच कोई प्रकाश है! स्फोट, प्रतिभा, ध्वनन, जैसे विचार भाषा को उसकी अभिधात्मक शक्ति से ज़्यादा प्रस्तुत करते हैं। कुछ भारतीय विचारक ज्ञान को भी स्वयंप्रकाश मानते हैं। ज़्यादातर तो आगम या शब्द के प्रमाण होने की बात मानते हैं। मैंने कवि से पूछा कि क्या हम दी हुई भाषा में अपना रास्ता या मार्ग बना सकते हैं। उनका उत्तर हाँ में था। लेकिन भाषा में विस्तार का

गुण होता है, कुछ जिस कारण उसमें प्रकाश या शक्ति होने की बात कहते हैं। भाषा जैसे सारी चीज़ों में कई रूपों में छिपी पड़ी रहती है, उसकी शुरुआत ही चीज़ों को नाम देने से होती है। वह आग ढूँढने जैसा है, जिसे, जैसा कि लोककथाओं में कहते हैं, प्रकृति ने कहीं न कहीं छिपा रखा होता है और जिसका संधान करना पड़ता है। 'भाषा', कवि ने कहा, 'स्फोट तो है ही, वह स्फुल्लिंग भी है। चिंगारी।' और आगे कहा कि 'पानी हमेशा दिख जाता है, आग नहीं, उसे हम उत्पन्न करते हैं, खोज निकालते हैं। शब्द हमेशा सुनाई देते हैं, अर्थ नहीं।' मित्र ने कहा, 'फिर अर्थ ही तो प्रकाश है।'

मैं पूछता और बोलता रहा। वंचना की आत्मशक्ति के बारे में। अधिकारी विद्वान् बताते हैं कि बुद्ध ने कभी भी आत्म की बात नहीं कही, उसके होने या न होने का ज़िक्र नहीं किया। 'आम्बेडकर के लेखन में स्पिरिचुएलिटी शब्द आता है। क्या तुम्हें मालूम है?' यह सुन कर मैं तुरत उनकी कुछ रचनाओं के पन्ने पलटने लगा। 'नहीं, मैं नहीं जानता, लेकिन यह सोचने की बात है', मैंने लिखा। यह कलकत्ते से एक मित्र ने पूछा था। हमारा घर इतना पुराना है, छुट्टियों में आ कर मैं इसकी देखभाल में लगा हूँ, और सोचता हूँ यह कहाँ तक टिक पाएगा। और इस बीच यहाँ की भागदौड़ में मैं एक पर्चे के लिए तैयारी कर रहा हूँ क्योंकि आम्बेडकर को पढ़ता हूँ इन दिनों। मैं समझ नहीं पाया। सोचा यह कोई मुहावरा तो नहीं। लेकिन आम्बेडकर ही क्यों! क्या हम आधुनिकों का अपराध-बोध है वहाँ। सिर्फ़ आम्बेडकर स्टडी सर्कल और गलियों चौराहों और चौपालों में सूट पहने विद्वान नेता की मूर्तियाँ ही नहीं— आम्बेडकर अब भारतीय कक्षाओं और सेमिनार भवनों के नये कैनन हैं। उदारतावादी, न्यायविद, संविधान निर्माता, या बौद्ध। कवि ने पहली बार मज़े में कहा, 'और एक समाज-वैज्ञानिक क्यों नहीं, सोशल थिंकर ऑफ़ द फ़र्स्ट ऑर्डर!'मित्र ने कवि से कहा था कि आप को नहीं लगता है कि लोहिया और आम्बेडकर की कन्नड़ परम्परा में गाँधी की गहरी छाया है, भले ही हम उनकी बात कम करें। गाँधी अपने कर्म और प्रयोगों के इर्द-गिर्द वैचारिक गुत्थियाँ या बहसें खड़ी कर देते थे। आपको नहीं लगता की आम्बेडकर का पूरा चिंतन जैसे गाँधी से लम्बी बहस है। इस ओर लोगों का ध्यान इधर गया भी है। मैंने कहा कि लेकिन गाँधी मुझे थोड़ी मुश्किल चीज़ लगते हैं। मुश्किल इसलिए क्योंकि उन गुत्थियों के बीच एक तारतम्य दिखता है। कवि ने कहा, 'मुझे लगता है देर-सबेर ही सही, इट कम्स टू ऑल ऑफ़ अस इन सम फ़ॉर्म।' मैंने सोचा कि कम-से-कम वे गुत्थियाँ तो हमारा पीछा नहीं छोड़तीं। लेकिन गाँधी को चिंतक या दार्शनिक के बजाय हम प्रयोगधर्मा ही क्यों न मानें। आम्बेडकर की शैली में विद्वत्ता, पॉलेमिक्स, प्रतिपक्ष खड़ा करने का साहस है। मित्र ने कहा कि बिल्कुल एक समाजशास्त्री की तरह, जो उस ज्ञान को परिवर्तन की नयी राजनीति में बदल देना चाहता है। तो इनमे से कौन है पूर्व-पक्ष और कौन सिद्धांत-पक्ष। मैंने सोचा कि हमारे लिए दोनों ही पूर्व-पक्ष हैं। एक भाव का पूर्व-पक्ष है और दूसरा अभाव का। मित्र ने कहा, 'और बिना परम्परा का निर्धारण किये, ये पक्ष कैसे खड़े होंगे! 'पश्चिमी ज्ञान' और औपनिवेशिक युग का लम्बा सरोकार, हम उसे कहाँ रखेंगे? और आख़िरकार जिसे हम अपनी 'परम्परा' कहते हैं, औपनिवेशिक काल के पहले की, जो टूटती-बिखरती नये ढंग से परिभाषित की जाती रही हैं, वे सब कहाँ खड़ी होंगी?'

'इन दोनों के चिंतन में', मैंने कहा, 'मेरी समझ से सारी बहस कर्म को लेकर है, व्यक्ति, जाति, समाज, राष्ट्र, राज्य और धर्म इनके बीच विचारे जाते हैं। प्राचीन मीमांसक कितने प्रसन्न होते। वह जो वंचित है, वह भूत और कर्म के भरोसे ही जीता है, आइ मीन इन मैटर ऐंड एक्शन। डार्कनेस ऑफ़ ह्यूमन लेबर। वंचित की कला क्राफ़्ट है, इट इन्वोल्व्ज़ लेबर। इट कीप्स मीयर कंसेप्शन अवे।' कवि ने कहा, 'ऐंड दैट इज़ हाउ इट इज़ अ फ़ॉरमेशन ऑफ़ लाइफ़।' मित्र ने फिर कहा, 'तो क्या किसी व्यक्ति का अनुभव ख़ास तौर पर यदि वह बेहद निजी हो तो क्या औरों का भी हो सकता है। हम अपने अनुभवों को दूसरों तक लाते क्यों हैं, यह जताने के लिए कि यह सिर्फ़ किसी एक व्यक्ति का हो सकता है या यह कि इसमें सबका साझा है?' मैंने कहा कि अनुभव भले ही नितांत निजी हों,

लेकिन जिस क्षण वे सम्प्रेषणीयता प्रकट कर किसी भी भाषा में आकार लेते हैं, स्वर, चित्र, छपे हुए अक्षर, या सिर्फ़ हमारे हाव-भाव, वे औरों के भी होते हैं। वे अपनी निजता खोते हैं, क्योंकि वे एक साझी चीज़ बनते हैं, माध्यम के साझेपन के कारण। यह कहने का अर्थ यह नहीं कि हमारे विशिष्ट या निजी अनुभव नहीं होते। उसकी निजता की समझ भी एक साझी भाषा से ही सम्भव है। मित्र ने बातचीत को थोड़ा आगे बढ़ाया और कहा कि तब निजता और तटस्थता की बात हम कैसे करें! उसने मुझे याद दिलाया कि हम दोनों ही आधुनिक शास्त्रों से आये हैं, और एक शोधकर्त्ता और विद्वान के रूप में कवि भी यह बात मानेंगे।

वह क्या चीज़ है जो हमारी तमाम विशिष्टताओं को बाँध सकती है, कोई सेतु बना सकती है? मित्र ने अंग्रेज़ी अनुवाद के शीर्षक की ओर देख कर मुझे आगाह किया था कि मूल कन्नड़ शीर्षक *ओरु केरी* है। वह जो केरी से बाहर है। बहुत देर तक मैं इस शीर्षक का रहस्य समझने की कोशिश करता रहा। उसका इशारा एक बहुत गम्भीर बात की ओर था। कवि का गाँव जो बाहर हो कर भी अंदर था, अंदर हो कर भी बाहर। कहीं मैं बिल्कुल अलग छवि तो नहीं बना रहा कवि की। मैंने डी.आर. नागराज, जो कि कवि के मित्र और समकालीन थे, के अंग्रेज़ी निबंधों की किताब उठा कर देखी। कवि पर लिखा उनका लेख मुझे याद आ गया, मेरी पेंसिल के निशानों के साथ, बल्कि साथ ही *ओरु केरी* की भूमिका भी थी। जो शायद तब मैंने नहीं पढ़ी थी।

भारतीय भाषाओं के लेखन की अपनी वैचारिक प्रवृत्तियाँ हैं, और फिर उनकी एक साझी दुनिया भी। उनकी बातचीत एक दूसरे से इशारों में चुपचाप चलती है। बहुत कुछ अनुवादों से छन कर पहुँचता है, लेकिन आख़िर कितना! कन्नड़ भाषा और साहित्य की अपनी एक दुनिया है, जिसमे गाँधी, लोहिया और मार्क्स आधुनिकता के बोध और विश्लेषण के पथ-प्रदर्शक रहे हैं। लेकिन इनमें सबसे मुखर लोहिया का प्रभाव दिखता है। आज़ादी के बाद के भारत में लोहिया का प्रभाव इतना भी अबूझ नहीं। मैंने मित्र से कहा कि परम्परा की ज़मीन पर खड़ा होने का रास्ता लोहिया निकाल लाए थे, जो बहुतों को आकर्षित करता था। वहाँ गाँधी से ज़्यादा आधुनिकता से भिड़ने का अवकाश था, मार्क्स का समाजवाद अपनाया जा सकता था, फिर स्वयं गाँधी के भारत को एक प्रयोगशाला में बदलने की ज़िद वैसी नहीं, जितनी कि संसदीय लोकतंत्र की बहस की ज़मीन के रूप में। लोहिया अपनी मौलिकता के लिए कम बल्कि इस युक्ति के लिए कइयों के लिए बहुत प्रेरणादायक थे।

आम्बेडकर जैसे आधुनिक भारतीय विचारकों में छूट से गये थे। स्वतंत्र लोकतंत्र में दिये गये के नकार की ज़मीन से वे बोलते थे। हाशिये के भारतीय जीवन की परम्परा, तिरस्कार और वंचना की परम्परा। मित्र ने पूछा हम नया कैसे खड़ा करते हैं, पुराने को मिटा कर या उसे फिर से जोड़ कर। कला और साहित्य या विचार किस विधि को अपनाते हैं! सारे समाज-विज्ञानों की अपनी विधियाँ हैं। सिर्फ़ इतिहास-लेखन की विधि थोड़ी कला-रूपों जैसी है, ठीक-ठीक कोई पद्धति या प्रणाली नहीं होती। लेकिन रचते समय जैसे हम सब उतनी ही कल्पना के सामने खड़े रहते हैं। लेकिन कल्पना एक मुश्किल शब्द है, समाज विज्ञान के लिए। कल्पना के जो रूढ़ अर्थ हैं, उनसे तो यह लगता है कि यह चमत्कार जैसी कोई चीज़ है। मैंने कहा कि कितने अलग उदाहरण हैं हमारे सामने कल्पना के। मुक्तिबोध उसका विस्तार करते हैं, फ़ैंटेसी में बदल कर अर्थ रचते हैं। आम्बेडकर प्रश्न खड़े करने में करते हैं। गाँधी उसका अनुवाद प्रयोगशीलता में करते हैं। लोहिया लोकतंत्र की नयी व्याख्या में करते हैं। ऐसे में यह कैसे तय हो कि विचार या सृजन के किसी भी कर्म में कल्पना ज़्यादा है या कम। आम्बेडकर समाज-विज्ञान का निचोड़ अपने लेखन में लाते हैं। वह यथार्थ का एक ऐसा विश्लेषण है, जिससे नयी कविता, कल्पना, और विचार उपजते हैं। समाज-विज्ञान प्रत्ययों के माध्यम से स्थितियों का विश्लेषण करता है, कविता प्रत्ययों में जकड़ी जा कर अपना वजूद खो देती है। लेकिन दोनों एक दूसरे को सम्भव करते हैं।

****

अचानक अलमारी में सामने पड़ी अपनी प्रिय किताब *अशोक के फूल* उठाता हूँ। कई पुस्तकों को हम सिर्फ़ उनके नामों के लिए सँजो रखते हैं। और यह तो ललित-निबंधों की मेरी सबसे प्रिय पुस्तक है, एक ऐसी विधा की जो कि अब सिर्फ़ पाठ्य-पुस्तकों में ही सिमटी है। मैं अपने आप से कहता हूँ कि क्या अब मुझे सिर्फ़ ऊटपटाँग चीज़ें ही दिखाई पड़ती हैं। ललित-निबंधों में इतिहास और समाज के साक्ष्य, इतिहास और सामाजिकी से जुड़े लेखन में शब्द और अर्थ के खेल, जैसे की यह हमारा देखना ही तो है, जो करने का मार्ग प्रशस्त करता है— दृष्टि यानि दिट्ठि, दीठ जो कि रूपांतर भी है चीज़ों के बाह्य और आंतरिक क्रम का, और कृत्य या कर्म जैसे नित्य मज्जित करता वापस उस दृष्टि को। आधुनिक समाज-विज्ञान इस देखने को एक सुसंगत पद्धति से नये ज्ञान के रूप में बदलता है। लेकिन यदि देखना या जानना इंद्रियग्राह्य क्रियाएँ हैं, तो क्या यह प्रक्रिया, जहाँ इंद्रियाँ करण हैं, यानी औज़ार, माध्यम, या उपस्कर, सारे समाजों और और उनके भौतिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक कालों में एक-सी रहती है, या इसका कोई सार्वभौम मानवीय रूप सम्भव नहीं! या सार्वभौमिकता सिर्फ़ इस प्रक्रिया मात्र की है, इसके उपादानों की नहीं!

मित्र की दृष्टि से देखें तो समाज-विज्ञान या आधुनिक मानविकी, जो कि मूलत: हमारे यहाँ पश्चिमी ज्ञान से परिचय और मुठभेड़ से आयी है, ने समाज, संस्कृति, राजनीति और भौतिक एवं आर्थिक प्रक्रियाओं, जिन्हें हम सामान्य व्यापार मात्र मान लेते हैं,का व्यवस्थित ज्ञान खड़ा करते हैं। अंतत: वह एक समाजशास्त्री है, लेकिन जैसा कि हमने बिल्कुल आरम्भ में ही भाँप लिया था, वह अपने क़िस्म का समाजशास्त्री है जो कि कहता है कि वह एक भारतीय समाज-वैज्ञानिक है, जो कि आधुनिक कर्नाटक के समाज और कन्नड़ भाषा को अपने अध्ययन के केंद्र में रखता है। उसका भाषा पर यह ज़ोर हमारे कुछ समाज-वैज्ञानिक मित्रों को खटक सकता है, उसमें वैचारिक सँकरेपन, अंग्रेज़ी में जिसे 'पैरोकियलिज़म' कहा जाता है, का अंदेशा जान पड़ सकता है। लेकिन मित्र की सोच, हम जैसा कि अपने इस थोड़े परिचय से जान पाए हैं, इसके ठीक विपरीत है। वह पश्चिमी ज्ञान की सार्वभौमिकता को एक ख़ुमारी कहता है, या कि औपनिवेशिक काल की जड़ता और अंधता, 'पैरोकियलिज़म ऑफ़ सॉर्ट्स'। भाषा पर ज़ोर उसके लिए संकीर्णता अथवा दुराग्रह नहीं, बल्कि उसी देखने का विस्तार है, जो दीख सके उसके फ़लक का विस्तार। लेकिन सिर्फ़ इतना ही नहीं, मैं इससे आगे बढ़ कर भाषा को अर्थ-सृजन की भूमि कहता हूँ, जिसका दायरा और संदर्भ पश्चिम से हमारी मुठभेड़ से अलग नहीं हो सकता— यहाँ तक की जिस रूप में हम आज अपनी परम्परा के अर्जन और पुनर्भाष्य की बात करते हैं, वह भी। हमारा संदर्भ जितना हमारी ज़मीन है, उतना ही हमारा आकाश भी, वह हमारी बेड़ियाँ मात्र नहीं। आम्बेडकर का एक संदर्भ मित्र याद दिलाता है, *अनाइहिलेशन ऑफ़ कास्ट* से ही :

> इसमें कोई संदेह नहीं कि जब तक आप अपनी सामाजिक व्यवस्था नहीं बदलेंगे तब तक सचमुच प्रगति के नाम पर कुछ ख़ास नहीं अर्जित कर पाएँगे। आप समुदाय को रक्षा या आक्रमण के लिए एकजुट नहीं कर पाएँगे। आप जाति की नींव पर कुछ भी नहीं बना पाएँगे। आप एक राष्ट्र नहीं बना पाएँगे, आप एक नैतिकता नहीं बना पाएँगे। जो भी आप जाति की नींव पर बनाएँगे उसमें दरार आ जाएगी और वह कभी भी सम्पूर्ण नहीं होगा।

कवि हम दोनों को आगाह करते हुए अपनी बात जोड़ते हैं, मेरी ओर देख कर कि अर्थ तो संधान है, लेकिन उसकी वास्तविक प्रक्रिया तो सन्निधि है। साहित्य, हर रोज़ की बातचीत और कारोबार में हम जिसे जोड़ना कहते हैं, बुनना या रचना। कवि ने सोच कर कहा कि यदि सच कहें तो अर्थ की खोज इस प्रकार सौख्य भी तो है। मैं सोचता रहा कि उनका इशारा कितनी गम्भीर बात की ओर है, जैसे कोई गहरी तात्त्विक बात सहज ही वे कह गये हों। मित्र कह पड़ा, 'वी कम टु द

फ़ील्ड, दे क्रिएट अ न्यू फ़ील्ड, यू मीन।' मेरे आगे थी बुद्ध की वही प्रशांत मूर्ति और आम्बेडकर का गम्भीर चेहरा। मैं अपने को रोक नहीं पाया और मित्र की बात में जोड़ दिया कि 'येस वी डू, थ्रू द एक्ट ऑफ़ अनाहिलेशन ऐंड सीकिंग शून्य, एम्प्टिनेस।' और हम तीनों हँस पड़े।

अशोक के फूल के पन्ने पलटते हुए मेरी नज़र रुक जाती है, एक अंश पर। उसे भी कवि और मित्र को लिखे जा रहे नोट के साथ लिख भेजता हूँ। और, लिखते हुए सोचता हूँ कि क्या ये किसी ललित-निबंध के वाक्य हैं,या सचमुच मुझे चीज़ें ऊटपटाँग नज़र आती हैं :

> मुझे ऐसा लगता है कि ज्यों-ज्यों हमारे देशवासियों में आत्मचेतना का संचार होता जाएगा, त्यों-त्यों हिंदू समाज की भीतरी समस्याएँ उग्र रूप धारण करती जाएँगी। राजनीतिक बंधनों के दूर होते ही हमारी मानसिक या आध्यात्मिक गुलामी का बंधन और भी कठोर प्रतीत होगा। दो सौ वर्षों की राजनीतिक गुलामी को तोड़ने में हमें जितना प्रयास करना पड़ा है, उससे कहीं अधिक प्रयास करना पड़ेगा इस सहस्राधिक वर्षों की सामाजिक और आध्यात्मिक गुलामी की ज़ंजीरों को तोड़ने में।

[यह संवाद-लेख मूलतः तीन व्यक्तियों के बीच हुई कुछ सच्ची और कुछ काल्पनिक बातचीत पर आधारित है। 'इतिहास का विद्यार्थी' स्वयं लेखक है, 'मित्र' चंदन गौड़ा हैं जो कि अजीम प्रेमजी विश्वविद्यालय, बंगलुरु में अध्यापक हैं, और 'कवि' कन्नड़ के कवि और विद्वान सिद्धलिंगैया हैं। संवाद के केंद्र में है सिद्धलिंगैया की आत्मकथा *ओरु केरी* जिसके पहले खण्ड का कन्नड़ में प्रकाशन 1996 में अक्षरा प्रकाशन, सागर द्वारा किया गया था। 'ओरु केरी' का दूसरा खण्ड सीजके प्रकाशन, बंगलुरु से 2009 में हुआ। नवयान, नयी दिल्ली ने इन दोनों खण्डों का संयुक्त संस्करण एस.आर. रामकृष्ण द्वारा अंग्रेज़ी अनुवाद के रूप में 2013 में प्रकाशित किया। लेखक विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) के अपने सहकर्मी अध्येताओं और अन्य मित्रों का आभारी है, जिनसे हुए संवादों के टुकड़ों की छाया यहाँ दिख सकती है। ये संवाद अध्ययन पीठ के दो नये उपक्रम, शोधार्थियों के लिए शुरू की गयी शिक्षण-कार्यशाला 'रिसर्चिंग द कंटेम्परेरी' और 'भारतीय भाषा कार्यक्रम' से उसके जुड़ाव के कारण सम्भव हो सके। इनके अतिरिक्त इसमें उसके अपने बौद्धिक-इतिहास संबंधी शोध और अध्ययन पीठ में भारतीय और पश्चिमोत्तर विचार-परम्पराओं के अनुसंधान से जुड़े कई संवादों का भी योग है।]

सिद्धलिंगैया (2013), *अ वर्ड विद यू, वर्ल्ड : द ऑटोबायोग्राफ़ी ऑफ़ अ पोएट,* कन्नड़ में *ओरु केरी* शीर्षक से दो खण्डों में प्रकाशित, अनुवाद : एस.आर. रामकृष्ण, नवयान, नयी दिल्ली. इस लेख के सभी रेखांकन आत्मकथा के अंग्रेज़ी संस्करण के सौजन्य से. चित्रकार : लक्ष्मण ऐले